



शमशा

जुलाई-सितम्बर १९६२

वर्ष ४३

अंक ७-८



प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

सम्पादक	सह-सम्पादक
डा० अशोक कुमार सिंह	डा० शिव प्रसाद
वर्ष ४३	अंक ७
जुलाई-सितम्बर, १९९२	
प्रस्तुत ग्रन्थों में	
१. जैन-धर्म और दर्शन का प्रासंगिकता-वर्तमान परिप्रेक्ष्य में	— डा० इन्दु
२. वैदिक साहित्य में जैन परम्परा	— प्रो० दयानन्द भार्गव
३. श्वेताम्बर मूलसंघ एवं माथुर संघ : एक विमर्श	— प्रो० सागरमल जैन
४. जैन दृष्टि में नारी की अवधारणा	— डा० श्री रंजन सूरिदेव
५. पूर्णिमागच्छ का संक्षिप्त इतिहास	— डा० शिव प्रसाद
६. कवि छल्लू कृत अरडकमल्ल का चार भाषाओं में वर्णन	— श्री भँवरलाल नाहटा
७. द्वादशार नयचक्र का दार्शनिक अध्ययन	— जितेन्द्र बी० शाह
८. जैन कर्मसिद्धान्त और मनोविज्ञान	— रत्नलाल जैन
९. पुस्तक समीक्षा	७१
१०. पार्श्वनाथ शोधपीठ के प्रांगण में	७९
वार्षिक शुल्क	एक प्रति
चालीस रुपये	दस रुपये

यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से सम्पादक अथवा संस्थान सहमत हों।

जैन-धर्म और दर्शन की प्रासंगिकता - वर्तमान परिप्रेक्ष्य में

- डॉ. इन्दु

जैन-धर्म और दर्शन की वर्तमान समय में क्या प्रासंगिकता है ? इस सन्दर्भ में यह अवधेय कि हमारे देश में धर्म और दर्शन अवियोज्य रीति से जुड़े हुए हैं, क्योंकि हमारे यहाँ दर्शन का बुद्धि विलास न होकर जीने की वस्तु रहा है, व्यवहार की वस्तु रहा है, जीवन के रहस्यों को ढूँढ़ने और उन्हें सुलझाने का माध्यम रहा है। भारतीय दर्शन की उत्पत्ति ही दुःख से मानी गयी है और दुःखों से छुटकारा पाना ही इसका एक-मात्र लक्ष्य रहा है। समस्त भारतीय दर्शनों से दुःखों से छुटकारा पाने के भले ही अलग-अलग मार्ग ढूँढ़े गये हों, पर इस बात से तो सभी सहमत हैं कि दुःखों का कारण हमारी वासना है, इच्छा है, तृष्णा है, आसक्ति है। अतः जैन-धर्म भी इसका अपवाद नहीं है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, समाज का अनिवार्य अंग है। व्यक्ति और समाज परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। ऐसी परिस्थिति में यह अनिवार्य है कि व्यक्ति और समाज दोनों ही एक-दूसरे के लिए अपने कर्तव्यों के प्रति सजग रहें। चूँकि समाज व्यक्तियों का समूह है और समाज का निर्माण व्यक्ति के परस्पर सहयोग एवं सुरक्षा की अपेक्षा से व्यक्ति द्वारा हुआ है, अतः अन्य शब्दों में हमें यह कहना चाहिए कि व्यक्ति को स्वकर्तव्यों का पालन विवेकपूर्वक करना चाहिए। सामान्यतया जैन दर्शन के निवृत्तिमूलक होने के फलस्वरूप यह प्रतीत होता है कि वर्तमान वैज्ञानिक युग में हमारे समक्ष या राष्ट्र या विश्व के लिए इसकी सार्थकता नहीं है, पर विवेकपूर्वक विचार करने पर यह भ्रान्त धारणा ही सिद्ध होती है। डॉ. सागरमल जैन के अनुसार "ये दर्शन इतना तो अवश्य मानते हैं कि चाहे वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकाकी जीवन लाभप्रद हो सकता है, किन्तु उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग सामाजिक कल्याण के दिशा में होना चाहिए। महावीर और बुद्ध का जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है कि वे ज्ञान के पश्चात् जीवन-पर्यन्त लोक-मंगल के लिए कार्य करते रहे। यद्यपि इन निवृत्ति प्रधान दर्शनों में जो सामाजिक सन्दर्भ उपस्थित हैं, वे थोड़े भिन्न प्रकार के अवश्य हैं, इनसे मूलतः सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि का प्रयास परिलक्षित होता है। सामाजिक सन्दर्भ की दृष्टि से हमें सामाजिक रचना एवं सामाजिक दायित्वों के निर्वहण की अपेक्षा सामाजिक जीवन को सुदृढ़ बनाने वाले तत्त्वों के निरसन पर बल दिया गया है।"¹

1. जैन, बौद्ध और गीता का समाज-दर्शन, डॉ. सागरमल जैन, प्र.- प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर (राजस्थान), 1982, पृ. ६

जैन-धर्म में वैराग्य भावना या संन्यास पर जोर दिया गया है। शायद यही कारण है इस दर्शन की उपादेयता पर वर्तमान समय में प्रश्नचिह्न लगा दिया जाता है, पर इस बात इन्कार नहीं किया जा सकता कि आज हमारे राष्ट्र को, समाज को जिन विषम परिस्थितियों एवं समस्याओं -- सम्प्रदायवाद, वर्गवाद, जातिवाद, गरीबी, भाई-भतीजावाद, देश को अटुकड़ों में बाँटने की प्रवृत्ति -- का सामना करना पड़ रहा है, उसका मूल कारण हमारा स्वभाव है, राग है, ममत्व है। आज जब तक हम अपने इस 'मैं और मेरे' के भाव के नागपाश से मुक्त नहीं होते, तब तक न तो हममें स्वस्थ राष्ट्रीय चेतना का प्रादुर्भाव हो सकता है और न ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त को गौरवान्वित कर सकते हैं। इस प्रकार राग हमारे स्वसम्बन्धों के विकसित होने के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। पर यह भी सत्य है कि राग-क्रोध आदि (क्रोध, मान, माया, लोभ) ये मनुष्य की सहज प्रवृत्तियाँ हैं, अतः तज्जन्य समस्याएँ सभी कालों में उठती रही हैं। अतः हमारे भारतीय-दर्शन ने हमारी इन दुष्प्रवृत्तियों के उच्छेद पर बल देकर, तज्जन्य समस्याओं के हल को ढूँढ़कर अपनी दूरदर्शिता को ही दर्शाया है। अतः हमारी स्वस्थ सामाजिकता का आधार राग नहीं, प्रत्युत विवेक है। डॉ. जैन के अनुसार "विवेक के आधार पर ही दायित्व-बोध एवं कर्तव्य-बोध की भावना जागृत होती है। राग भाषा अधिकार की भाषा है, जबकि विवेक की भाषा कर्तव्य की भाषा है। जहाँ केवल अधिकारों की बात होती है, वहाँ केवल विकृत सामाजिकता होती है। स्वस्थ सामाजिक अधिकार की नहीं, विवेक का बोध कराती है और ऐसी सामाजिकता का आधार विवेक होता है, कर्तव्य-बोध होता है। जैन-धर्म ऐसी ही सामाजिक चेतना को जागृत करना चाहता है।"^१

क्रोध, मान, माया और लोभ हमारी कुप्रवृत्तियाँ हैं, जो हमें बन्धन में डालती हैं, इन कषाय कहते हैं। इन कषायों के निरोध की परिकल्पना सामाजिक विषमताओं को दूर कर स्वस्थ सामाजिक समत्व को स्थापित करने की दिशा में एक सफल प्रयास है। इन कषायों से हमारी आत्मा अपने मूल स्वरूप से तो च्युत होती ही है, साथ ही ये सामाजिक विषमता, अशान्ति और संघर्ष को भी फल्लवित, पुष्पित एवं फलित करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान देती हैं। क्रोध के कारण पारस्परिक सौहार्द नष्ट होता है। जिसके फलस्वरूप अविश्वास और असुरक्षा की भावना उत्पन्न होती है। वर्तमान समय में विश्व के देशों में शस्त्र-संग्रह करने की प्रवृत्ति के पीछे अविश्वास की भावना ही काम कर रही है। इस प्रकार क्रोध एवं आवेश के फलस्वरूप आक्रामण, हत्या, युद्ध एवं संघर्ष को बढ़ावा मिलता है। हमारे समाज में व्याप्त धार्मिक असहिष्णुता एवं घृणा का कारण भी यह आक्रोश ही है। मान अर्थात् अहंकार के फलस्वरूप घृणा, द्वेष, ऊँच-नीच का भाव पनपता है। हमारे सामाजिक सम्बन्धों में टूटन का यह एक प्रमुख कारण है। वह अहंकार ही है, जिसमें व्यक्ति अपने अहं के वशीभूत होकर उचित-अनुचित का भी विवेक खो देता है। माया या कपट की मनोवृत्ति स्वार्थपरता, अविश्वास और अमैत्रीपूर्ण व्यवहार को पोषित करती है, जो सामाजिक जीवन के लिये अभिशाप है। लोभ

१. जैन, बौद्ध और गीता का समाज-दर्शन, डॉ. सागरमल जैन, प्र.-प्राकृत, भारती संस्थान, जयपुर (राजस्थान), 1982. पृ. 10

अहिंसा संग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण, क्रूरता, स्वार्थपरता, विश्वासघात की भावना विकसित होती है। लोभ ही तृष्णा - जो कि समस्त अनर्थों की मूल है - की जड़ है। मानव जाति के अनेक पाप, प्रतिष्ठा, यश-लिप्सा, सघ-वृद्धि आदि के रूप में बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों को भी पथ भ्रष्ट करने से नहीं चूकता है।

अतः यह कहना अनुचित न होगा कि ये कषाय ही समस्त व्यक्तिगत एवं सामाजिक समस्याओं के मूल हैं। यदि हम सामाजिक विषमताओं, जिसे समाप्त करना आज के समय की सबसे बड़ी आवश्यकता प्रतीत होती है, को समाप्त कर, सामाजिक समत्व की स्थापना करना चाहते हैं तो हमें इन कषायों के उन्मूलन हेतु जैन-दर्शन द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करना ही पड़ेगा।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे व्रतों को अणुव्रत के रूप में (पंचमहाव्रतों के अलावा) प्रस्तुत करके और इन अणुव्रतों के माध्यम से सामाजिक समस्याओं को हल ढूँढ़ निकाला गया है, वह अपने आप में जैन-दर्शन की महत्ता को वर्तमान सन्दर्भ में प्रतिपादित करने की दिशा में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अणुव्रतों का विधान जन-सामान्य (श्रावक और श्राविका) के लिए किया गया है, जो कि अहिंसादि पंचव्रतों का पालन कठोरता (पंचमहाव्रतों के रूप में) से नहीं कर सकते। यों तो अणुव्रतों की संख्या पाँच ही है, पर चूँकि अहिंसा की सुरक्षा एवं विकास के लिए अर्थात् अणुव्रतों के सही रूप से पालन हेतु इन्हें व्यावहारिक रूप देने की दृष्टि से तीन गुणव्रतों एवं चार शिक्षाव्रतों का विधान किया गया है और इन्हें भी अणुव्रतों के नाम से ही जाना जाता है, इस प्रकार अणुव्रतों की संख्या बारह हो गयी है।

आज विश्व के देश, विश्व को एकाधिक बार समूल विनाश कर डालने में समर्थ आणविक शक्तियों का संग्रह करने के बाद तनाव के वातावरण में जी रहे हैं। ऐसे सन्दर्भ में महावीर के अहिंसा जीवनदायी सिद्ध हो सकते हैं। मानव अस्तित्व को सुरक्षित रखने की दिशा में जैन-धर्म का अहिंसा सिद्धान्त समीचीन है। जैन अहिंसा का न केवल निषेधात्मक प्रतिपादन करते हैं, बल्कि अहिंसा का सकारात्मक पक्ष भी दर्शाते हैं। अहिंसा का आशय दया, करुणा, प्रेम, मैत्री, सहभाव एवं परस्पर सहयोग का विकास है, जिसकी वर्तमान समय में महती आवश्यकता है। अहिंसा अर्थव्यवस्था एवं न्याय-अन्याय के विवेक से ही अहिंसा की रक्षा हो सकती है। बढ़ती हुई अहिंसा-प्रवृत्ति, स्वार्थपरता एवं एक दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ अहिंसा को प्रोत्साहित करती है।

जैन-दर्शन के अनुसार सत्य और अहिंसा परस्पर अन्यान्याश्रित एवं पूरक हैं। सत्य से अहिंसा विकसित हो सकती है और अहिंसा से सत्य का विकास होता है। सत्य के अभाव में अहिंसा अन्धी अहिंसा के अभाव में सत्य अंधा एवं कुरूप होता है।

अस्तेय जिस रूप में गृहस्थों के लिए स्वीकृत माना गया है उसे स्थूल अदत्तादान विरमण कहते हैं अर्थात् बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना अस्तेय या अदत्तादान अथवा चोरी है। अहिंसा के अभाव में सत्य अंधा एवं कुरूप होता है। अस्तेय जिस रूप में गृहस्थों के लिए स्वीकृत माना गया है उसे स्थूल अदत्तादान विरमण कहते हैं अर्थात् बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना अस्तेय या अदत्तादान अथवा चोरी है। अहिंसा के अभाव में सत्य अंधा एवं कुरूप होता है।

की चोरी है। अदत्तादान के पाँच अतिचारों से इसकी वर्तमान प्रासंगिकता और अधिक होती है। प्रथम स्तेनाहृत अर्थात् चोरी की वस्तु को ग्रहण करना या खरीदना, तस्कर-प्रयोग अर्थात् चोर-डाकुओं आदि अवांछनीय तत्त्वों की हर प्रकार से सहायता देना, उन्हें शरण देना एवं उनका समर्थन करना, तृतीय राज्यादिविरुद्ध कर्म अर्थात् कर-चोरी, अनुमति के दूसरे राष्ट्रों की सीमा का उल्लंघन करना, निषिद्ध वस्तुओं का अन्य देश आयात-निर्यात करना, राज्य के कानूनों को तोड़ना, राज्य-हित के विरुद्ध षड्यन्त्र करना, चतुर्थ, कूटतोल या कूटमान अर्थात् लेन-देन में न्यूनाधिकता का प्रयोग करके दूसरों के विश्वासघात आदि करना और पंचम तत्प्रतिरूपक व्यवहार अर्थात् वस्तुओं में मिलावट करना अनुचित लाभ उठाना, दूसरों को धोखा देना आदि।

समाज के बढ़ते हुए व्यभिचार एवं वेश्यावृत्ति को रोकने, तज्जन्य एड्स (Aids) जैसी घातक बिमारियों के उन्मूलन एवं स्वस्थ समाज के निर्माण हेतु श्रावकों के लिए प्रतिपादित स्वदार सन्तोष-व्रत का प्रतिपादन वर्तमान समय के लिए अप्रासंगिक नहीं ठहराया जा सकता है। श्रावकों हेतु प्रतिपादित ब्रह्मचर्य या स्वदार सन्तोष का तात्पर्य है स्व-पत्नी के अतिरिक्त शेष समस्त स्त्रियों के साथ मैथुन सेवन का मन, वचन और शरीर से त्याग करना।

मनुष्य की इच्छाएं अनन्त हैं। इच्छापूर्ति इच्छा-अग्नि की वृद्धि में घृत का कार्य करती तृष्णा को बढ़ाती है। अतः इच्छातृप्ति का श्रेष्ठ उपाय है, इच्छा-परिमाण एवं इच्छा-नियन्त्रण साधारण लोगों के लिए तो इच्छाओं का सर्वथा त्याग (अपरिग्रह) सम्भव नहीं है, पर उचित परिमित अवश्य किया जा सकता है। मनुष्य को उतना ही रखना या संग्रह करना चाहिए जिसके उसके एवं उसके आश्रितों के लिए अनिवार्य हो। अनावश्यक संग्रह ही हमारी सामाजिक विषमता का मुख्य कारण है। समाज में बढ़ते हुए विद्वेष, संघर्ष, शोषण, गरीबी, छल-कपट, वर्गभेद, चोर-बाजारी, मुनाफाखोरी, पूँजीवाद आदि के लिए हमारी आवश्यकता से अधिक संग्रह करने की मनोवृत्ति ही उत्तरदायी है। यदि हम वास्तव में सरल एवं सच्चे समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं, सामाजिक न्याय को सच्चे अर्थों में प्रतिष्ठित करने के इच्छुक हैं, तो हमें अपनी बड़ी हुई तृष्णाओं पर अंकुश लगाना ही होगा।

जैन-धर्म में न केवल सैद्धान्तिक रूप से अणुव्रतों का विधान किया गया है प्रत्युत उनकी रक्षा एवं विकास के लिए गुणव्रतों की भी व्यवस्था की गयी है, जो तीन हैं -- दिशापरिमाणव्रत, उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत एवं अनर्थदण्ड विरमण व्रत। इच्छा परिमाण या परिग्रह परिमाण रूप पाँचवे अणुव्रत की सुरक्षा हेतु एवं उसे उचित रूप से व्यवहार में लाने के लिए दिशापरिमाण रूप गुणव्रत का प्रतिपादन किया गया है अर्थात् अपनी आवश्यकतानुसार अपने व्यापार आदि के लिये दिशा की मर्यादा निश्चित होने पर हमारी तृष्णा भी वहीं तक सीमित हो जाती है। इसी मार्ग का अनुसरण करके हम अपनी प्रतिभाओं का पलायन, जो विदेशों की ओर हो रहा है, रोक सकते हैं। दिशा-परिमाण के जो पाँच अतिचार बताये गये हैं, उनसे दिशा-परिमाण की स्थिति और अधिक स्पष्ट हो जाती है।

जैन-धर्म में अहिंसा एवं सन्तोष व्रत की रक्षा एवं महातृष्णा से निजात पाने हेतु तथा जीवन में शान्ति लाने के लिए जीवनोपयोगी सामग्रियों - उपभोग और परिभोग की सामग्रियों - की मर्यादा निश्चित की गयी है।

अहिंसा एवं अपरिग्रह के पोषण एवं रक्षा हेतु अनर्थदण्ड विरमण गुणव्रत का विधान किया गया है अर्थात् अपने और परिवार के जीवन-निर्वाह के लिए अनिवार्य हिंसापूर्ण (जिसमें कम से कम हिंसा हो) व्यवसाय के अतिरिक्त समस्त पापवृत्तियों से निवृत्त होना चाहिए। सामान्यतया यह देखा जाता है कि बड़े-बड़े व्यापारों द्वारा, जिसमें व्यक्ति अधिक से अधिक संचय करने की इच्छा रखता है, उचित-अनुचित के विवेक के अभाव में शोषण को बढ़ावा देता है। अनर्थदण्डविरमण का मुख्य उद्देश्य है - निष्प्रयोजन किये जाने वाले कर्मों से सामान्य जन को बचाना। निरर्थक प्रवृत्तियाँ अनुशासनहीनता और विवेकहीनता की प्रतीक हैं। अतः यह कहना अत्युक्ति नहीं कि जैन-धर्म द्वारा प्रतिपादित अणुव्रतों ने उसे वर्तमान समय में और भी प्रासंगिक बना दिया है।

प्रायः संन्यास को समाज विरोधी समझा जाता है। मेरी दृष्टि में इस प्रमाद का एक कारण संन्यास के वास्तविक अर्थ को न समझना तो है ही, साथ ही एक अन्य कारण है हमारे समाज में संन्यास के नाम पर ढोंग करने वाले उन लोगों की उपस्थिति, जो अपने परिवार के प्रति, समाज के प्रति किये जाने वाले कर्तव्यों से स्वयं को बचाने के लिए गेरुआ वस्त्र धारण करके, भिखारी जीवन व्यतीत करते हुए, समाज पर बोझ बने रहते हैं। यह ठीक है कि संन्यास ग्रहण करते समय व्यक्ति वित्तैषणा, पुत्रैषणा एवं लोकैषणा के त्याग का संकल्प लेता है, पर इससे वह समाज विमुख नहीं सिद्ध होता है, क्योंकि वित्तैषणा आदि का त्याग आसक्ति का त्याग है, स्वार्थ एवं ममत्व का परित्याग है, समाज का नहीं। अपनी आसक्ति से विमुख होकर ही व्यक्ति समाज कल्याण की ओर उन्मुख होता है, व्यक्ति में समाष्टि के दर्शन करता है। बुद्ध और महावीर का जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है। भगवान् बुद्ध ने स्वयं कहा था 'असत्त्वं भिक्षवे चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय देव अनुस्सानं।' (विनय पिटक-महावग)। अतः यदि मैं यह कहूँ कि आदर्श समाज की स्थापना के लिए प्रत्येक व्यक्ति को संन्यासी होना चाहिए, तो अत्युक्ति न होगी। गीता में भी कहा गया कि काम्य अर्थात् राग युक्त कर्मों का त्याग ही मोक्ष है (गीता 18/2)। निरग्नि एवं निष्क्रिय होना संन्यास नहीं है, सच्चा संन्यास या योग वह है, जो समाज में रहकर लोक-कल्याण के लिए अनासक्त भाव से कर्म करता रहे। (गीता 6/1)।

इसी सन्दर्भ में मोक्ष की सार्थकता का विवेचन भी अप्रासंगिक न होगा। अवधेय है कि मोक्ष ही संन्यास का ही पर्याय है। हमारे कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ ही हमारे सामाजिक जीवन में बाधक तत्त्व हैं और मोक्ष इन प्रवृत्तियों से छुटकारा पाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी अर्थ में मोक्ष की वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिकता भी है क्योंकि यही एक ही मार्ग है जिससे हमारे जीवन में सत्यं, शिवं, सुन्दरं की स्थापना हो सकती है। आज का जन्म ऐसी तत्त्वमीमांसा स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है जिसके अनुसार दर्शन का उद्देश्य

वर्तमान काल के सुख-दुःख मिश्रित जीवन की उपेक्षा करके मरणोत्तर भावी पुनर्जन्म रूप से बचने की चिन्ता में योजना बद्ध रूप से सम्पूर्ण जीवन समाप्त कर देना हो। उसकी दृष्टि दर्शन की सार्थकता व्यक्ति को केवल मरने और पुनः न पैदा होने के लिए तैयार करने में नहीं अपितु सुख-शान्तिपूर्वक जीवन यापन करने का मार्ग बताने में है। कहने का आशय यह कि मुक्ति केवल मरणोत्तर अवस्था (विदेह मुक्ति) नहीं है, प्रत्युत वह इसी जीवन में प्राप्त है और यही मोक्ष रूप चतुर्थ पुरुषार्थ है जिसकी समीचीनता के बारे में वर्तमान समय में सन्देह व्यक्त किया जाता है। राग-द्वेष या कषायों से मुक्ति की बात उतनी सुगम एवं सामान्य नहीं जितनी यह कहने या सुनने में प्रतीत होती है। इसके लिए गहन साधना की आवश्यकता जैसा कि तीर्थकरों के जीवन से स्पष्ट है।

हमारे पुरुष प्रधान समाज में नारी-शोषण की प्रथा प्राचीन है। वैदिक काल में उसकी स्थिति मध्यकाल की अपेक्षा बेहतर अवश्य मानी जा सकती है, पर वह बहुत अच्छी थी, नहीं कहा जा सकता। शिक्षादि के क्षेत्र में अग्रणी जिन महिलाओं - गार्गी, मैत्रेयी आदि - का नाम उदाहरण स्वरूप लिया जाता है, उन्हें अपवादस्वरूप ही माना जाना चाहिए। वर्तमान समय में शिक्षा-प्रसार आदि के परिणामस्वरूप उनमें निश्चित रूप से जागृति आयी है और उनकी स्थिति में सुधार भी हुआ है। वैधानिक रूप से उन्हें पुरुषों के समकक्ष भी रखा गया है, पर व्यवहार में पुरुष उसे आज भी अपनी दासी ही समझना चाहता है। वैदिक धर्म में जहाँ उपासक या उपासिका मात्र पुत्र-प्राप्ति की ही कामना रखते हैं, वहीं जैन-धर्म में पुत्र एवं पुत्री की प्राप्ति हेतु समान रूप से प्रार्थना की गयी है।^१ हिन्दू धर्म में धार्मिक दृष्टि से पुत्र महत्त्वपूर्ण माना जाता है किन्तु कर्म सिद्धान्त में आस्थावान् जैन-धर्म यह मानता है कि व्यक्ति की सद्गति पुत्र द्वारा नहीं प्रत्युत अपने द्वारा किये गये सत्कर्मों से होती है। अतः सन्तान द्वारा प्रतिपादित कर्मकाण्ड पूर्वजों को प्रभावित नहीं करते।

जैन-धर्म में भिक्षुणी संघ की व्यवस्था महिलाओं के लिए एक ऐसा सुदृढ़ शरणस्थल रही है, जिसके द्वार सभी वर्ग, जाति व वर्ण की महिलाओं का स्वागत करते हैं, जिसके फलस्वरूप सती-प्रथा जैसी वीभत्स कुप्रथा कभी अपना सिर नहीं उठा सकी। आज भी हमारे हिन्दू समाज में दहेज की बलिदेवी पर अपने को न्यूँछावर करने वाली महिलाओं की संख्या में कमी नहीं आ रही है, जिसका एक मात्र कारण यही है कि दूसरों (पिता एवं पति) के घर के अतिरिक्त उनका स्वयं का कोई स्वतन्त्र आश्रय-स्थल नहीं होता परिणामस्वरूप उन्हें मौत का आत्मिक करना ही पड़ता है। जैन-धर्म का भिक्षुणी संघ एक ऐसा सशक्त सामाजिक प्रहरी सिद्ध हुआ है जो दहेज-प्रथा आदि बुराइयों का प्रवेश समाज में निषिद्ध करता है। इस प्रकार भिक्षुणी संघ ने विधवा, परित्यक्ता एवं कुमारियों का रक्षा-कवच बनकर उन्हें पुरुष के शोषण एवं अत्याचारों का शिकार होने से बचाया है। आज भी जैन भिक्षुणियों की संख्या जैन भिक्षुओं से तीन गुनी अधिक है। इस प्रकार भिक्षुणी संघ ने न केवल नारी को सामाजिक उत्पीड़न एवं पुरुष के

१. 'जइ णं अहं दारगं वा पयायामि तो णं अहं जायं य जाव अणुवुड्ढेमिग्गि।' ज्ञाताधर्मकथा १, २, १।

वैचारिकों से बचाया है, प्रत्युत उन्हें उनकी खोई हुई गरिमा वापस दिलाकर, उन्हें सम्मानपूर्ण एवं स्वावलम्बी जीवन जीना सिखाया है। अतः निःसन्दिग्ध रूप से भिक्षुणी संघ जैसी व्यवस्था वर्तमान सन्दर्भ में आवश्यक प्रतीत होती है।

जैन-दर्शन द्वारा प्रदत्त अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद के सिद्धान्त न केवल इस दर्शन की उदारता एवं सूझ-बूझ को दर्शाते हैं, अपितु ये वर्तमान सामाजिक सन्दर्भ में भी उपादेय सिद्ध हो सकते हैं, क्योंकि यह सिद्धान्त वैचारिक सहिष्णुता का प्रतिपादन करता है। आज हमारे समाज में व्याप्त साम्प्रदायिकता, धर्मान्धता, वर्गवाद, जातिवाद, राजनैतिक असहिष्णुता ने सम्पूर्ण विश्व को तनाव में डालकर विक्षुब्ध कर रखा है, मात्र इतना ही नहीं, प्रत्युत सामाजिक मूल्यों के अवन्यून एवं सामाजिक और पारिवारिक जीवन को विषाक्त बनाने का श्रेय भी वैचारिक असहिष्णुता को ही जाता है।

वैचारिक असहिष्णुता से आशय है -- मात्र अपने ही विचारों की सत्यता पर आग्रह अर्थात् यह मानना कि मेरा ही विचार अथवा ज्ञान सत्य है, अन्य का नहीं। इस प्रकार के मिथ्या आग्रह से ही विवाद एवं संघर्ष का जन्म होता है, जो सामाजिक विषाद, विग्रह एवं वैमनस्य का कारण बनता है। सूत्रकृतांग में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो अपने-अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मत की निन्दा करने में ही अपना पाण्डित्य दिखाते हैं और लोक को सत्य से भटकाते हैं, वे एकान्तवादी स्वयं संसार चक्र में भटकते रहते हैं।^१ अनेकान्तवाद का सिद्धान्त हमें वैचारिक सहिष्णुता की दृष्टि प्रदान करके हमें दूसरे के विचारों का सम्मान करना सिखाता है, हमें इस बोध से अवगत कराता है कि सत्य हमारी निजी सम्पत्ति नहीं, प्रत्युत् यह दूसरों के पास भी हो सकता है। जैन-दर्शन के अनुसार सत्य के अनेक पक्ष हैं (अनन्तधर्मात्मकं वस्तुः) और आग्रह या वैचारिक असहिष्णुता सत्य के बाधक तत्त्व हैं। आग्रह राग का पर्याय है, जिसकी उपस्थिति में सत्य का दर्शन असम्भव है।

धार्मिक असहिष्णुता जिसके फलस्वरूप न केवल हमारे देश का वातावरण विषाक्त होता जा रहा है, अपितु विदेशों में भी धर्म के नाम पर होने वाले जघन्य दुष्कृत्य मानवता को शर्मिन्दा करते हैं। वैचारिक सहिष्णुता के फलस्वरूप ही धार्मिक संवाद (Religious Dialogue) सम्भव है, जिसके द्वारा धार्मिक सद्भाव का वातावरण तैयार किया जा सकता है, जिसकी वर्तमान समय को महती आवश्यकता है। धार्मिक दृष्टि से वैचारिक सहिष्णुता या धार्मिक-संवाद का आशय सभी धर्मों का किसी एक धर्म में विलय करके, उनके स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त करना या उनमें निहित मात्र एकता को ही दूढ़ना नहीं है, अपितु उनको उनके स्वतन्त्र अस्तित्व में देखना, उनके भेदों या विशिष्टताओं को उस धर्म या सम्प्रदाय के व्यक्तियों की दृष्टि से देखना और उसमें निहित सत्यता को स्वीकार करना है। वैचारिक सहिष्णुता से न केवल धार्मिक क्षेत्र में प्रत्युत राजनैतिक, सामाजिक, पारिवारिक आदि सभी क्षेत्रों में सहिष्णुता की स्थापना कर तज्जन्य संघर्षों एवं विद्वेषों से बचा जा सकता है।

१. सयं सयं पसंसता गरहंता परं वयं।

जैन-धर्म भाग्य की अपेक्षा पुरुषार्थ या कर्म को प्रधानता देता है। इस दृष्टि से भी सराहनीय है। आज का मानव भाग्यवादी न होकर पुरुषार्थवादी है, जिसके फलस्वरूप चन्द्रमा तक पहुँच चुका है। जैनधर्म-कर्मवादी होने के कारण ही ईश्वर जैसी किसी सत्ता विश्वास नहीं करता, जो प्राणियों से अच्छे व बुरे कर्मों को सम्पन्न कराता है। मनुष्य स्वयं अपने पाप और पुण्य के लिये उत्तरदायी है, वह स्वयं अपना भाग्य-विधाता है। भाग्य ईश्वरीय सत्ता की कल्पना हमारे अन्दर अकर्मण्यता की भावना को प्रोत्साहित करती है।



वैदिक साहित्य में जैन परम्परा

- प्रो. दयानन्द भार्गव

वैदिक साहित्य में श्रमण परम्परा ढूँढ़ने के अनेक प्रयत्न हुए हैं। उन प्रयत्नों में ऋग्वेद या यजुर्वेद जैसे प्राचीन साहित्य में ऋषभदेव या अरिष्टनेमि जैसे नामों की उपलब्धि के आधार पर जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है अथवा वैदिक साहित्य की मुख्य धारा से हट कर जहाँ कहीं विद्रोह का स्वर मिला उसे श्रमण परम्परा का प्रभाव मान लिया गया है। उदाहरणतः द्रात्य लोगों को श्रमणों का प्रतिनिधि मान लिया गया क्योंकि द्रात्य आर्यों की मूल संस्कृति से हटकर आचरण करते थे। जहाँ निवृत्ति-धर्मपरक बात आई उसे भी श्रमण संस्कृति का सूचक मान लिया गया। हम प्रस्तुत निबन्ध में अपने पूर्ववर्ती विद्वानों से हट कर यह दिखलाने का प्रयत्न करेंगे कि श्रमण परम्परा के जिन मूल्यों को वैदिक साहित्य में स्थान मिला उन्हें वैदिक समाज ने यथावत् ग्रहण नहीं किया, बल्कि अपनी तरह से ढाल कर आत्मसात् किया। यदि उपरी समानता के आधार पर ही हम यह मान लें कि वैदिक साहित्य के अमुक प्रसंगों में श्रमण परम्परा प्रतिफलित होती है तो भारतीय संस्कृति की हमारी समझ अपूर्ण ही रह जायेगी।

यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि श्रमण परम्परा की दो धाराओं जैन और बौद्धों को एकार्थक नहीं मान लिया जाना चाहिये।

प्रस्तुत निबन्ध में हम वैदिक साहित्य में केवल जैन परम्परा के प्रभाव की छाया ढूँढ़ने का प्रयत्न करेंगे। श्रमण परम्परा जैन परम्परा का पर्यायवाची नहीं है। उदाहरणतः अनेकान्त का प्रसंग लें तो पता चलेगा कि जैनों के इस सिद्धान्त का खंडन केवल शंकर जैसे वैदिक परम्परा के व्यक्ति ने ही नहीं किया अपितु शान्तरक्षित जैसे श्रमण परम्परा के बौद्ध आचार्य ने भी किया। इसके विपरीत पूर्व मीमांसक वैदिक परम्परा के होकर भी अनेकान्त के समर्थक रहे। अतः वैदिक बनाम श्रमण की नारा बहुत सुविचारित नहीं है।

वैदिक साहित्य में विचारों का विकास हुआ और हजारों वर्ष के चिन्तन के अनन्तर एक व्यापक संस्कृति का निर्माण हुआ। इस व्यापक संस्कृति के निर्माण में श्रमण परम्परा भी अपना योगदान देती रही। इस योगदान की आदान-प्रदान के रूप में द्विविध प्रक्रिया चली। उस प्रक्रिया के तन्तु इतने सूक्ष्म थे कि उसके फलस्वरूप जिस सामासिक संस्कृति का निर्माण हुआ उसमें श्रमण और वैदिक को पृथक्-पृथक् कर पाना आज कठिन है। शंकराचार्य के मायावाद पर बौद्ध दर्शन के शून्यवाद का प्रभाव ढूँढ़ने वाले विद्वान जहाँ शंकराचार्य के दादा गौड़पाद की माण्डूक्य-कारिका में बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन की कारिकाओं की छाया देखने का प्रयत्न करेंगे

और सम्भवतः उनके समर्थन में स्वयं वैदिक परम्परा के ही नैयायिकों द्वारा शंकराचार्य को दिया गया विरुद्ध अर्ध-वैनाशिक एक प्रमाण भी बन जाये, वहां दूसरी ओर स्वयं वेदान्ती शांकर वेदान्त में किसी भी प्रकार की श्रमण परम्परा की छाया से इंकार करते हुए उसे विशुद्ध वैदिक श्रुतिमूलक दर्शन घोषित करेंगे।

किसी भी परम्परा में मुख्य धारा से हट कर विरोधी स्वर भी सदा रहते ही हैं। इन विरोधी स्वरों को सदा किसी दूसरी परम्परा का प्रभाव ही मान लेना युक्ति-युक्त नहीं। किसी भी दार्शनिक तथा धार्मिक परम्परा का मूल स्रोत जीवन है। जीवन की अनित्यता का तथ्य एक ऐसा स्रोत है जिससे न्यूनाधिक मात्रा में किसी भी विचारशील पुरुष के मन में वैराग्य का भाव जागना स्वाभाविक है। जहां-जहां वैराग्य की भावना है वह सब किसी एक परम्परा का प्रभाव ही है -- यह मान्यता उचित नहीं है। फिर भी यदि दो परम्परायें एक साथ हजारों वर्षों तक रहें तो उनका एक दूसरे पर प्रभाव न पड़े यह संभव नहीं।

एक कठिनाई यह है कि जैन परम्परा बहुत प्राचीन है, किन्तु उसका साहित्य बहुत अर्वाचीन है। जैन आगम के प्राचीनतम अंश 2300 वर्ष पुराने हैं किन्तु अधिकांश साहित्य पिछली दो सहस्राब्दियों में निर्मित हुआ। उधर प्राचीन उपनिषदों तक का विशाल वैदिक साहित्य 2500 वर्ष से भी अधिक प्राचीन है। अतः उस साहित्य पर श्रमण परम्परा का कितना प्रभाव पड़ा, यह कहना कठिन है। सामान्यतः तो यही अनुमान लगाया जायेगा कि श्रमण संस्कृति ही वैदिक साहित्य से प्रभावित हुई किन्तु इन दोनों संस्कृतियों की कुछ अपनी ऐसी विशेषतायें हैं जिनके आधार पर किस संस्कृति में कौन सा तत्त्व विजातीय है - यह कहा जा सकता है।

वैदिक परम्परा के चार पुरुषार्थों में अर्थ तथा काम पर श्रमण परम्परा का कोई प्रभाव नहीं कहा जा सकता। जहां तक धर्म पुरुषार्थ का संबंध है वैदिक साहित्य में धर्म समाज, राजनीति तथा अर्थनीति जैसे लौकिक विषयों से जुड़ा है जब कि जैन परम्परा में धर्म मोक्ष पुरुषार्थ का ही अपर पर्याय है। व्यास के अनुसार धर्म, अर्थ और काम का साधक है। जैन परम्परा में धर्म का एक मात्र प्रयोजन मोक्ष है न कि अर्थ अथवा काम। तप जैसे विषय के संदर्भ में इस अंतर को स्पष्ट समझा जा सकता है। जैन धर्म में तपस्या की बहुत महिमा है। वैदिक साहित्य में भी वेद से लेकर पुराणों तक तपस्या का बारम्बार उल्लेख है। किन्तु एक अन्तर स्पष्ट देखने में आता है। वैदिक परम्परा में हर तपस्या का अन्त किसी वरदान की प्राप्ति से होता है। जबकि जैन परम्परा में मुझे एक भी ऐसा उदाहरण ध्यान में नहीं आता जहां तपस्या के बदले में तपस्या करने वाले ने कोई वरदान मांगा हो। जैन परम्परा में तपस्या निर्जरा का कारण है जबकि वैदिक परम्परा में तपस्या किसी लौकिक कामना की सिद्धि का साधन है यहां तक कि 'कुमार संभव' में जब कालिदास ने शिव को तपस्या करते हुए दिखाया तो उन्हें कहना पड़ा --

"केनापि कामेन तपश्चचार।"

वैदिक संस्कारों से प्रभावित कालिदास का मन यह नहीं सोच सका कि तपस्या बिना कामना के भी की जा सकती है। किन्तु शिव जैसे आप्त-काम के साथ क्या कामना जोड़ी जाये

यह भी वे नहीं सोच सके। इसलिये मानो रहस्यवाद की भाषा में उन्हें कहना पड़ा-केनापि कामेन तपश्चचार।

तपस्या के समान ही एक दूसरा मूल्य मैत्री है जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य में बारम्बार है। यजुर्वेद में कामना की गई है कि मैं सबको मैत्री की दृष्टि से देखूँ और सब मुझे मैत्री पूर्ण दृष्टि से देखें। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि जो सबका मित्र होता है और वह किसी की हिंसा नहीं करता, किन्तु वैदिक साहित्य की इस मैत्री की अवधारणा को भी जैन परम्परा की अहिंसा की अवधारणा से पृथक् करके देखना आवश्यक है। इस संदर्भ में तीन साहित्यिक प्रमाण ध्यातव्य हैं --

1. गीता में अर्जुन द्वारा अहिंसा के मूल्य को ही आगे रख कर युद्ध न करने की बात कही गई है। यह सत्य है कि वह अपने भाई-बन्धुओं के मोह में आसक्त है और इसलिये जैन दृष्टि से भी उसकी भावना अहिंसा के लिये आवश्यक वीतरागता से परिपूर्ण न होकर रागपूर्ण ही है। किन्तु यह भी सत्य है कि जैन दृष्टि से ऐसी स्थिति में अर्जुन को युद्ध के लिये प्रेरित करना न्याय संगत नहीं था। किन्तु कृष्ण ने जो अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरणा दी उसका मुख्य आधार यह था कि युद्ध क्षत्रिय का धर्म है। जैन दृष्टि से युद्ध हमारी कमजोरी या लाचारी हो सकती है, धर्म नहीं। इस मौलिक मतभेद को ध्यान में रखें तो गीता में वे सब अंश जिनमें आपाततः श्रमण संस्कृति का प्रभाव परिलक्षित होता है एक प्रकार से श्रमण संस्कृति के मूल्यों को वैदिक परम्परा के मूल्यों की अपेक्षा गौण एवं आनुषङ्गिक बनाने देने का प्रयत्न ही माना जायेगा। इसमें सन्देह नहीं कि गीताकार को स्थित-प्रज्ञ का स्वरूप निरूपण करते समय श्रमण संस्कृति के सर्वोत्तम मूल्यों का पूरा आभास है। किन्तु साथ ही यह भी निःसंदिग्ध है कि गीताकार अपने पाठक को यह बताना चाहते हैं कि श्रमण संस्कृति के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये जीवन के संघर्ष से उस प्रकार के पलायन की आवश्यकता नहीं है जिसे श्रमण संस्कृति मुनि धर्म नाम देती है। इस स्थिति को मैं गीता पर श्रमण संस्कृति के प्रभाव की अपेक्षा वैदिक संस्कृति की श्रेष्ठता उद्घोषित करने का प्रयास ही मानूँगा, यद्यपि गीता की जो व्याख्या शंकराचार्य अथवा विनोबा भावे ने की उसे मैं श्रमण संस्कृति का प्रभाव ही कहूँगा। किन्तु गीता की एक व्याख्या लोकमान्य तिलक की भी है और वर्तमान में सामान्य हिन्दू के मन को तिलक की ही व्याख्या ज्यादा समीचीन प्रतीत होती है।

2. अहिंसा के संदर्भ में एक दूसरा प्रसंग कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल'^१ का है श्लोक का अर्थ इस प्रकार है - यज्ञ में पशु हिंसा करने वाला ब्राह्मण क्रूर नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह शास्त्रोक्त कर्म कर रहा है। इस प्रकार जहाँ गीता में युद्ध के प्रसंग में क्षत्रिय द्वारा शस्त्र संचालन धर्म मान लिया वहाँ यज्ञ के प्रसंग में ब्राह्मण द्वारा पशु का आलम्बन धर्म माना गया। सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि यज्ञ में पशु-बलि का जैनों ने बहुत विरोध किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि जैन किसी भी प्रकार की हिंसा के विरुद्ध थे। किन्तु जैनों के

१. अभिज्ञान शाकुन्तलम् - ६/१

शहजे किल जे विणिन्दिने ण हु शे कम्म विवज्जणीअके।

पशुमालि कलेइ कालणा छक्कम्मा विद्वे वि शोत्तिके।। ६।५।

साहित्य में मुझे कहीं भी यज्ञ में की जाने वाली पशु-हिंसा का विरोध बहुत आग्रहपूर्वक किया गया नहीं मिला। इतना तो प्रत्यक्ष-गोचर है कि आज श्रौत यज्ञों में पशु-बलि नहीं होती। ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन है कि यह प्रभाव-श्रमण परम्परा का है या उस गोपालक वैष्णव परम्परा का जो पशु हिंसा की अपेक्षा पशुपालन और मांसाहार की अपेक्षा शाकाहार पर इतना अधिक बल देती थी कि आज बोलचाल की भाषा में वैष्णव-भोजन शाकाहार का पर्यायवाची बन गया है।

3. पतंजलि के योग-सूत्र में यमों में प्रथम अहिंसा का विवेचन करते समय उस पर जैन परम्परा का प्रभाव विवेचन करते समय जैन परम्परा का प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई देता है। वहां किसी भी स्थिति में हिंसा की कूट न देने को महाव्रत कहा गया है। किन्हीं विशेष परिस्थितियों में हिंसा की कूट रखना हमारी कमजोरी हो सकती है, किन्तु धर्म नहीं। यह विवेचन सर्वथा जैन धर्म के अनुकूल है। यह मानना होगा कि जैन धर्म के अहिंसा के सिद्धांत ने अन्ततोगत्वा वैदिक परम्परा के साहित्य में एक ऐसा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया कि आज की सामयिक भारतीय संस्कृति की कल्पना भी अहिंसा के बिना नहीं की जा सकती तथापि यह मानना भी नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है कि अहिंसा भारतीय जन-जीवन का कोई अंग बन गई है। स्वयं जैन समाज ही जैन परम्पराभिमत अहिंसा की आवश्यक शर्त अपरिग्रह का पालन करने में असमर्थ रहा है फिर जैन समाज में तो अहिंसा के व्यवहार में आने का प्रश्न ही कहीं उठता है ? इतना अवश्य है कि वैदिक परम्परा में भी शंकर, गान्धी और विनोबा जैसे कुछ मनीषी अपरिग्रहानुप्राणित अहिंसा के प्रति उतने ही समर्पित रहे जितने कुन्द-कुन्द, हरिभद्र अथवा श्रीमद् राजचन्द्र जैसे जैन-मनीषी और इन अंशों में श्रमण परम्परा ने वैदिक साहित्य को भी प्रभावित किया है।

जैन दर्शन का एक महत्वपूर्ण सूत्र है समता। समता का अर्थ है -- सुख-दुख, हानि-लाभ, मान-अपमान में समानता का भाव रखना। यह एक ऐसा व्यावहारिक सिद्धान्त है जो पूरे भारतीय वाङ्मय में प्रतिबिम्बित हुआ। इस समानता का मुख्य आधार है वीतरागता। इन्द्रियों के अनुकूल विषयों की प्राप्ति होने पर प्रसन्नता का भाव समता भाव का विरोधी है।

वेद साहित्य को छोड़कर उपनिषद् के बाद के सभी साहित्य में वैराग्य की चर्चा की गई है। किन्तु वैदिक साहित्य में वैराग्य के अनेक आदर्श हैं। राजर्षि जनक राज्य करते हुए भी विरक्त हैं और विदेह-मुक्त कहलाते हैं। उपनिषद् के अनेक ऋषि सोने से मंडे हुए सींगों वाली गायों को पाकर प्रसन्न होते हैं यद्यपि वे ब्रह्म ज्ञानी हैं। कठोपनिषद् में नचिकेता सांसारिक सुख-वैभव के प्रति वैराग्य प्रदर्शित करता है किन्तु फिर भी वह एक वाक्य में ऐसा तथ्य उद्घोषित कर देता है जो उसके वैराग्य को श्रमण परम्परा के वैराग्य से भिन्न करता है। वह यमराज से कहता है -- लप्स्यामहे वित्त मद्राक्ष्म चेत्वा^१। यह वाक्य नचिकेता के मन की परिग्रह-संज्ञा को ही अभिव्यक्त करता है। फिर भी इसमें संदेह नहीं उपनिषदों में वैराग्य की भावना का खूब विकास हुआ।

१. कठोपनिषद्, वल्ली १/२७

ऐसा समझा जाता है कि महात्मा गांधी की जीवन दृष्टि पर श्रमण परम्परा का बहुत प्रभाव है किन्तु जिस प्रकार तपस्या अथवा वैराग्य के मूल्य को वैदिक परम्परा ने अपने ही रंग में ढाल कर अपनाया उसी प्रकार महात्मा गांधी ने अहिंसा का उपयोग भी जिस ढंग से किया वह जैन परम्परा के लिये अपरिचित है। गांधी जी के अहिंसा के कुछ प्रयोग नमक सत्याग्रह जैसी घटनाओं में निहित हैं। यहां सत्ता के अनुचित आदेश के विरुद्ध अहिंसात्मक ढंग से कार्यवाही की गई है। इसी प्रकार हरिजनों के मंदिर-प्रवेश के प्रश्न को लेकर या नोआखली के साम्प्रदायिक दंगों को लेकर महात्मा गांधी का आमरण अनशन करना एक अभिनव प्रयोग है। उन प्रयोगों में महात्मा गांधी ने अन्याय के विरुद्ध अहिंसा का प्रयोग एक शस्त्र के रूप में किया है। अहिंसा का ऐसा उपयोग श्रमण परम्परा में महात्मा गांधी के पहले भी नहीं हुआ था और महात्मा गांधी के बाद भी नहीं हुआ। जैन परम्परा इतनी अहिंसक है कि वह किसी अनैतिक कार्य करने वाले को नैतिक दबाव डालकर भी नहीं रोकना चाहती। किन्तु समाज को केन्द्र में रखने वाली वैदिक परम्परा में महात्मा गांधी ने अहिंसा का उपयोग नैतिक दबाव के रूप में करने का नया मार्ग प्रशस्त किया।

निष्कर्ष यह है कि अहिंसा, समता, वैराग्य, अपरिग्रह आदि जैन परम्परा के अनेक मूल्य वैदिक साहित्य में प्रतिबिम्बित हुए किन्तु वैदिक परम्परा ने इन सब मूल्यों को यथावत् ग्रहण न करके अपने ढंग से ढालकर ग्रहण किया और इस प्रकार वैदिक परम्परा अपना पृथक् ही अस्तित्व बनाये रख सकी। फिर भी सामासिक भारतीय संस्कृति के निर्माण में श्रमण परम्परा के योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती लेकिन साथ ही यह भी नहीं भुलाया जा सकता कि वैदिक साहित्य ने जैन परम्परा के मूल्यों का नया अर्थ दिया और अहिंसा, समता, वैराग्य, अपरिग्रह आदि शब्दों का प्रयोग यद्यपि वैदिक तथा श्रमण जैन साहित्य में समान रूप से हुआ किन्तु इन शब्दों का तात्पर्य दोनों परम्पराओं में एक ही नहीं है। योगसूत्र जैसे ग्रन्थ अवश्य इसके अपवाद हैं जहां अहिंसा की अवधारणा वही है जो जैन परम्परा में है।

- ऋषभदेव प्रतिष्ठान दिल्ली द्वारा आयोजित
भारतीय साहित्य में श्रमण परम्परा-संगोष्ठी,

दिनांक 25, 27 व 28 जनवरी, 1990

With best Compliments from :

USE
CHATONS

For Vanity Wear and Costumes Jewellery

Chatons Private Limited

23, Jolly Maker Chambers No. 1
2nd Floor, Nariman Point
Bombay-400 021

Manufacturers of :

QUALITY CHATONS & RAINBOW 'IRIS STONES'
VACCUM METALLISER OF PLASTICS
GLASS & METAL ARTICLES

Works :

Andrewnagar, Ghodbunder Road, BOMBAY-68 (W.B.)
PHONE : 242715 : 661789

श्वेताम्बर मूलसंघ एवं माथुर संघ : एक विमर्श

- प्रो. सागरमल जैन

सामान्यतया जैन विद्या के विद्वानों एवं शोधकर्त्ताओं की यह स्पष्ट अवधारणा है कि मूलसंघ और माथुरसंघ का सम्बन्ध जैनधर्म की दिगम्बर परम्परा से ही है, क्योंकि जैन अभिलेखों एवं साहित्यिक स्रोतों में मूलसंघ एवं माथुरसंघ के उल्लेख सामान्यतया दिगम्बर परम्परा के साथ ही पाये जाते हैं। संयोग से लेखक को जैनविद्या संस्थान की बैठक में लखनऊ जाने का प्रसंग आया और वहाँ उसे डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी आदि के सहयोग से मथुरा की जैन मूर्तियों के संग्रह को देखने का अवसर मिला, वहाँ जब उसने मथुरा से प्राप्त ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी की पद्मासन मुद्रा में लगभग 5 फीट ऊंची विशालकाय लेखयुक्त तीन जिन प्रतिमायें देखी, तो उसे एक सुखद आश्चर्य हुआ। क्योंकि इन तीन प्रतिमाओं पर श्वेताम्बर मूलसंघ और श्वेताम्बर माथुरसंघ के उल्लेख पाये जाते हैं जो कि अत्यन्त विरल है। इसके पूर्व तक लेखक की भी यह स्पष्ट अवधारणा थी कि श्वे. परम्परा में किसी भी काल में मूलसंघ और माथुरसंघ का अस्तित्व नहीं रहा है। अतः उसने ध्यानपूर्वक इन लेखों का अध्ययन करना प्रारंभ किया। सर्वप्रथम लखनऊ म्यूजियम के उस रिकार्ड को देखा गया जिसमें इन मूर्तियों का विवरण था। यह रिकार्ड जीर्ण-शीर्ण एवं टंक्ति रूप में उपलब्ध है। रिकार्ड को देखने पर ज्ञात हुआ कि उसमें J 143 क्रम की पार्श्वनाथ की प्रतिमा के विवरण के साथ-साथ अभिलेख की वाचना भी रोमन अक्षरों में दी गई है जिसका देवनागरी रूपान्तरण इस प्रकार है--

संवत् 1036 कार्तिकशुक्लाएकादश्यां

श्रीश्वेताम्बरमूलसंघेन पश्चिम चतु (श्वी),

कयं श्रीदेवनिर्मिता प्रतिमा प्रतिस्थापिता ।

दूसरी J 144 क्रम की प्रतिमा के नीचे जो अभिलेख है उसका वाचन इस प्रकार दिया गया है --

श्वेताम्बर.... माथुर..... देवनिम्पिता..... प्रतिस्थापिता ।

तीसरी J 145 क्रम की मूर्ति पर जो अभिलेख अंकित है उसकी वाचना निम्नानुसार है --

संवत् 1134 श्रीश्वेताम्बर श्रीमाथुरसंघ

श्रीदेवतेति

विनिर्मिताप्रतिमाकृत

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन तीनों अभिलेखों में से एक अभिलेख में श्वेताम्बर मूलसंघ और दो अभिलेखों में श्वेताम्बर माथुरसंघ का उल्लेख है। वी. ए. स्मिथ ने अपनी कृति 'दि जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्यूटीज आफ मथुरा' में इनमें से दो लेखयुक्त मूर्तियों को प्रकाशित किया है। साथ ही यह भी उल्लेख किया है कि फ्यूरर के अनुसार ये दोनों मूर्तियाँ मथुरा के श्वेताम्बर संघ को समर्पित थीं।

स्व. प्रो. के. डी. बाजपेयी ने भी 'जैन श्रमण परम्परा' नामक अपने लेख में, जो कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर से प्रकाशित 'अर्हत् वचन' पत्रिका के जनवरी 1992 के अंक में प्रकाशित हुआ है, इनमें से दो अभिलेखों का उल्लेख किया है। इनके अनुसार J 143 क्रम की प्रतिमा के अभिलेख की वाचना इस प्रकार है --

**"संवत् 1038 कार्तिक शुक्ल एकादश्यां
श्री श्वेताम्बर (माथुर) संघेन पश्चिम...
कार्या श्री देवनिर्मित प्रतिमा प्रतिष्ठापिता।"**

इसी प्रकार J 145 क्रम की प्रतिमा के अभिलेख की उनकी वाचना निम्नानुसार है --

**"संवत् 1134 श्री श्वेताम्बर श्री माथुर संघ --
श्री देवनिर्मित प्रतिमा कारितेति।"**

प्रो. बाजपेयी की J 143 क्रम की प्रतिमा की वाचना फ्यूरर की वाचना से क्वचित् भिन्न है, प्रथम तो उन्होंने संवत् को 1036 के स्थान पर 1038 पढ़ा है दूसरे मूलसंघेन को (माथुर) संघेन के रूप में पढ़ा है। यद्यपि उपर्युक्त दोनों वाचनाओं 'श्वेताम्बर' एवं 'माथुरसंघ' के सम्बन्ध में वाचना की दृष्टि से किसी प्रकार का कोई मतभेद नहीं है। मूलसंघेन पाठ के सम्बन्ध में थोड़े गम्भीर अध्ययन की अपेक्षा है। सर्वप्रथम हम इसी सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा करेंगे।

जब मैंने J 143 क्रमांक की मूर्ति के लेख को स्वयं देखा तो यह पाया कि उसमें उत्कीर्ण श्वेताम्बर शब्द बहुत ही स्पष्ट है और अन्य दो प्रतिमाओं में भी श्वेताम्बर शब्द की उपस्थिति होने से उसके वाचन में कोई भ्रान्ति की संभावना नहीं है। 'मूल' शब्द के पश्चात् का संघेन शब्द भी स्पष्ट रूप से पढ़ने में आता है किन्तु मध्य का वह शब्द जिसे फ्यूरर ने 'मूल' और प्रो. बाजपेयी ने 'माथुर' पढ़ा है, स्पष्ट नहीं है। जो अभिलेख की प्रतिलिपि मुझे प्राप्त है और जो स्मिथ के ग्रन्थ में प्रकाशित है उसमें प्रथम 'म' तो स्पष्ट है किन्तु दूसरा अक्षर स्पष्ट नहीं है, उसे 'ल' 'लु' और 'थु' इन तीनों रूपों में पढ़ा जा सकता है। उसे 'मूल' मानने में कठिनाई यह है कि 'म' के साथ 'ऊ की मात्रा' स्पष्ट नहीं है। यदि हम उसे 'माथुर' पढ़ते हैं तो 'म' में आ की मात्रा और र का अभाव पाते हैं। सामान्यतया अभिलेखों में कभी-कभी मात्राओं को उत्कीर्ण करने में असावधानियाँ हो जाती हैं। यही कारण रहा है कि मात्रा की सम्भावना मानकर जहाँ फ्यूरर के वाचन के आधार पर लखनऊ म्यूजियम के उपलब्ध रिकार्ड में 'मूल' माना गया है। वहीं प्रो. बाजपेयी ने 'ऊ की मात्रा' के अभाव के कारण इसे 'मूल' पढ़ने में कठिनाई का अनुभव

किया और अन्य प्रतिमाओं में 'माथुर' शब्द की उपस्थिति के आधार पर अपनी वाचना में 'माथुर' शब्द को कोष्ठकान्तगत रखकर माथुर पाठ की संभावना को सूचित किया। यह सत्य है कि इस प्रतिमा के लगभग 100 वर्ष पश्चात् की दो प्रतिमाओं में माथुर शब्द का स्पष्ट उल्लेख होने से उनका झुकाव माथुर शब्द की ओर हुआ है किन्तु मुझे जितनी आपत्ति 'मूल पाठ' को मानने में है उससे अधिक आपत्ति उनके 'माथुर' पाठ को मानने में है क्योंकि 'मूल पाठ' मानने में तो केवल 'ऊ' की मात्रा का अभाव प्रतीत होता है जबकि माथुर पाठ मानने में 'आ' की मात्रा के अभाव के साथ-साथ 'र' का भी अभाव खटकता है। इस सम्बन्ध में अधिक निश्चितता के लिए मैं डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी से सम्पर्क कर रहा हूँ और उनके उत्तर की प्रतीक्षा है। साथ ही स्वयं भी लखनऊ जाकर उस प्रतिमा लेख का अधिक गम्भीरता से अध्ययन करने का प्रयास करूँगा और यदि कोई स्पष्ट समाधान मिल सका तो पाठकों को सूचित करूँगा।

मुझे दुःख के साथ सूचित करना पड़ रहा है कि आदरणीय प्रो. के.डी. बाजपेयी का स्वर्गवास हो गया है। फिर भी पाठकों की स्वयं जानकारी प्राप्त करने के लिए यह सूचित कर देना आवश्यक समझता हूँ कि यह J 143 क्रम की प्रतिमा लखनऊ म्यूजियम के प्रवेश द्वार से संलग्न प्रकोष्ठ के मध्य में प्रदर्शित है। इसकी ऊंचाई लगभग 5 फीट है। J 143 क्रम की प्रतिमा के अभिलेख के 'मूल' और 'माथुर' शब्द के वाचन के इस विवाद को छोड़कर तीनों प्रतिमाओं के अभिलेखों के वाचन में किसी भ्रांति की संभावना नहीं है। उन सभी प्रतिमाओं में श्वेताम्बर शब्द स्पष्ट है। माथुर शब्द भी अन्य प्रतिमाओं पर स्पष्ट ही है, फिर भी यहाँ इस सम्बन्ध में उठने वाली अन्य शंकाओं पर विचारकर लेना अनुपयुक्त नहीं होगा। यह शंका हो सकती है कि इनमें कहीं श्वेताम्बर शब्द को बाद में तो उत्कीर्ण नहीं किया गया है? किन्तु यह संभावना निम्न आधारों पर निरस्त हो जाती है :-

1. ये तीनों ही प्रतिमाएं मथुरा के उत्खनन के पश्चात् से शासनाधीन रही हैं अतः उनके लेखों में परवर्ती काल में किसी परम्परा द्वारा परिवर्तन की संभावना स्वतः ही निरस्त हो जाती है। पुनः 'श्वेताम्बर' मूल संघ और माथुर संघ तीनों ही शब्द अभिलेखों के मध्य में होने से उनके परवर्तीकाल में उत्कीर्ण किये जाने की आशंका भी समाप्त हो जाती है।
2. प्रतिमाओं की रचनाशैली और अभिलेखों की लिपि एक ही काल की है। यदि लेख परवर्ती होते तो उनकी लिपि में स्वाभाविक रूप से अन्तर आ जाता।
3. इन प्रतिमाओं के श्वेताम्बर होने की पुष्टि इस आधार पर भी हो जाती है कि प्रतिमा क्रम J 143 के नीचे पादपीठ पर दो मुनियों का अंकन है, उनके पास मोरपिच्छी के स्थान पर श्वे. परम्परा में प्रचलित ऊन से निर्मित रजोहरण प्रदर्शित है।
4. उत्खनन से यह भी सिद्ध हो चुका है कि मथुरा के स्तूप के पास ही श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के अलग मन्दिर थे। जहाँ दिगम्बर परम्परा का मन्दिर पश्चिम की ओर था, वहाँ श्वेताम्बर मन्दिर स्तूप के निकट ही था।
5. इन तीनों प्रतिमाओं के श्वे. होने का एक आधार यह है कि तीनों ही प्रतिमाओं में श्री देवनिर्मित शब्द का प्रयोग हुआ है। श्वेताम्बर साहित्यिक स्रोतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि

उसमें मथुरा के स्तूप को देवनिर्मित मानने की परम्परा थी। सातवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक के अनेक श्वेताम्बर ग्रन्थों में इस स्तूप को देवनिर्मित कहा गया है^१। प्रो. के.डी. बाजपेयी ने जो यह कल्पना की है कि इन मूर्तियों को श्री देवनिर्मित कहने का अभिप्राय श्री देव (जिन) के सम्मान में इन मूर्तियों का निर्मित होना है -- वह भ्रांत है^२। उन्हें देवनिर्मित स्तूप स्थल पर प्रतिष्ठित करने के कारण देवनिर्मित कहा गया है।

श्वे. साहित्यिक स्रोतों से यह भी सिद्ध होता है कि जिनभद्र, हरिभद्र, बप्पभट्टि, वीरसूरि आदि श्वेताम्बर मुनि मथुरा आये थे। हरिभद्र ने यहाँ महानिशीथ आदि ग्रन्थों के पुनर्लेखन का कार्य तथा यहाँ के स्तूप और मन्दिरों के जीर्णोद्धार के कार्य करवाये थे। 9वीं शती में बप्पभट्टिसूरि के द्वारा मथुरा के स्तूप एवं मन्दिरों के पुनर्निर्माण के उल्लेख सुस्पष्ट हैं^३। इस आधार पर मथुरा में श्वे. संघ एवं श्वे. मन्दिर की उपस्थिति निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है।

अब मूल प्रश्न यह है कि क्या श्वेताम्बरों में कोई मूलसंघ और माथुर संघ था और यदि था तो वह कब, क्यों और किस परिस्थिति में अस्तित्व में आया ?

मूलसंघ और श्वेताम्बर परम्परा

मथुरा के प्रतिमा क्रमांक J 143 के अभिलेख के फ्यूरर के वाचन के अतिरिक्त अभी तक कोई भी ऐसा अभिलेखीय एवं साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर यह सिद्ध किया जा सके कि श्वेताम्बर परम्परा में कभी मूल संघ का अस्तित्व रहा है। जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं इस अभिलेख वाचन के सम्बन्ध में भी दो मत हैं -- फ्यूरर आदि कुछ विद्वानों ने उसे 'श्री श्वेताम्बर मूलसंघेन' पढ़ा है, जबकि प्रो. के.डी. बाजपेयी ने इसके 'श्री श्वेताम्बर (माथुर) संघेन' होने की सम्भावना व्यक्त की है।

सामान्यतया मूलसंघ के उल्लेख दिगम्बर परम्परा के साथ ही पाये जाते हैं। आज यह माना जाता है मूलसंघ का सम्बन्ध दिगम्बर परम्परा के कुन्दकुन्दान्वय से रहा है। किन्तु यदि अभिलेखीय और साहित्यिक साक्ष्यों पर विचार करते हैं तो यह पाते हैं कि मूलसंघ का कुन्दाकुन्दान्वय के साथ सर्वप्रथम उल्लेख दोड़ड कण्गालु के ईस्वी सन् 1044 के लेख में मिलता है^४। यद्यपि इसके पूर्व भी मूलसंघ तथा कुन्दकुन्दान्वय के स्वतन्त्र-स्वतन्त्र उल्लेख तो

१. (अ) सं. प्रो. टाकी, प्रो. सागरमल जैन, ऐस्पेक्ट्स आव जैनालाजी, खण्ड-२, (पं. बेवरदास स्मृति ग्रन्थ) हिन्दी विभाग, जैनसाहित्य में स्तूप - प्रो. सागरमल, पृ. १३७-८।

(ब) विविधतीर्थकल्प - जिनप्रभसूरि, मथुरापुरी कल्प।

२. अर्हत् वचन, वर्ष ४, अंक २, जनवरी ६२, पृ. १०।

३. (अ) विविधतीर्थकल्प - जिनप्रभसूरि, मथुरापुरी कल्प।

(ब) प्रभाकचरित, प्रभाचन्द्र, सिद्धी जैन ग्रन्थमाला, पृ. सं. १३, कलकत्ता, प्र.सं. १९४०, पृ. ८८-१११।

४. जैन शिलालेख संग्रह, भाग-२, मणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, सं. ४५, हीराबाग, बम्बई ४, प्र.सं. १९५२, लेखक्रमांक १८०।

मिलते हैं, किन्तु मूलसंघ के साथ कुन्दकुन्दान्वय का कोई उल्लेख नहीं है। इससे यही फलित होता है कि लगभग ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में कुन्दकुन्दान्वय ने मूलसंघ के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ा है और अपने को मूलसंघीय कहना प्रारम्भ किया है।

द्राविडान्वय (द्रविड संघ), जिसे इन्द्रनन्दी ने जैनाभास कहा था, भी अड़गाडि के सन् 1040 के अभिलेख में अपने को मूलसंघ से जोड़ती है^१

यही स्थिति यापनीय सम्प्रदाय के गणों की भी है, वे भी ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से अपने नाम के साथ मूलसंघ शब्द का प्रयोग करने लगे। यापनीय पुन्नागवृक्ष मूलगण के सन् 1108 के अभिलेख में '...श्रीमूलसंघद पो (पु)न्नाग वृक्षमूल गणद...' ऐसा उल्लेख है^२। इसी प्रकार यापनीय संघ के काणूर गण के ई. सन् 1074 के बन्दलिके के तथा ई. सन् 1075 के कुप्पटूर के अभिलेख में 'श्री मूलसंघान्वय काणूरगण' ऐसा उल्लेख है^३। इस सब से भी यही फलित होता है कि इस काल में यापनीय भी अपने को मूलसंघीय कहने लगे थे।

यापनीय गणों के साथ मूलसंघ के इन उल्लेखों को देखकर डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी आदि दिगम्बर विद्वान यह कल्पना कर बैठे कि ये गण यापनीय संघ से अलग होकर मूलसंघ द्वारा आत्मसात कर लिये गये थे^४। किन्तु उनकी यह अवधारणा समुचित नहीं है क्योंकि इन अभिलेखों के समकालीन और परवर्ती अनेकों ऐसे अभिलेख हैं जिनमें इन गणों का यापनीय संघ के गण के रूप में स्पष्ट उल्लेख है। सत्य तो यह है कि जब कुन्दकुन्दान्वय ने मूलसंघ के साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर अन्य संघों को जैनाभास और मिथ्यात्वी घोषित किया, (इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार से इस तथ्य की पुष्टि होती है) तो प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरों ने भी अपने को मूलसंघीय कहना प्रारम्भ कर दिया। ग्यारहवीं शती के उत्तरार्ध में अचेल परम्परा के यापनीय, द्राविड आदि अनेक संघ अपने साथ मूलसंघ का उल्लेख करने लगे थे। जबकि इन्द्रनन्दि ने इन सभी को जैनाभास कहा था।

इसका तात्पर्य यही है कि ग्यारहवीं शताब्दी में अपने को मूलसंघीय कहने की एक होड लगी हुई थी। यदि इस तथ्यों के प्रकाश में हम मथुरा के उक्त श्वेताम्बर मूलसंघ का उल्लेख करने वाले अभिलेख पर विचार करें तो यह पाते हैं कि उक्त अभिलेख भी अचेल परम्परा के विविध सम्प्रदायों के साथ मूलसंघ का उल्लेख होने के लगभग 60 वर्ष पूर्व का है अर्थात् उसीकाल का है। अतः सम्भव है कि उस युग के विविध अचेल परम्पराओं के समान ही सचेलपरम्परा भी अपने को मूलसंघ से जोड़ती हो।

मूलसंघ प्रारम्भ में किस परम्परा से सम्बद्ध था और कब दूसरी परम्पराओं ने उससे अपना सम्बन्ध जोड़ना प्रारम्भ किया - इसे समझने के लिये हमें सर्वप्रथम मूलसंघ के इतिहास

१. जैनशिलालेख संग्रह भाग २, लेखक्रमांक १७८।

२. वही " " २५०।

३. " " " २०७

४. भाग ३, भूमिका, पृ. २६ व ३२।

को जानना होगा। सर्वप्रथम हमें दक्षिण भारत में नोणमंगल की ताम्रपट्टिकाओं पर 'मूलसंघानुष्ठिताय' एवं 'मूलसंघेनानुष्ठिताय' ऐस उल्लेख मिलते हैं^१। ये दोनों ताम्रपट्टिकाएँ क्रमशः लगभग ईस्वी सन् 370 और ई. सन् 425 की शानी जाती है। किन्तु इनमें निर्ग्रन्थ कूर्चक, यापनीय या श्वेतपट आदि के नामों का उल्लेख नहीं होने से प्रथम दृष्टि में यह कह पाना कठिन है कि इस मूलसंघ का सम्बन्ध उनमें से किस धारा से था। दक्षिण भारत के देवगिरि और हल्सी के अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि ईसा की पांचवीं शती के उत्तरार्ध में दक्षिण भारत में निर्ग्रन्थ, यापनीय, कूर्चक और श्वेतपट महाश्रमण संघ का अस्तित्व था। किन्तु मूलसंघ का उल्लेख तो हमें ईसा की चतुर्थशती के उत्तरार्ध में मिल जाता है अतः अभिलेखीय आधार पर मूलसंघ का अस्तित्व यापनीय, कूर्चक आदि नामों के पूर्व का है। मुझे ऐसा लगता है कि दक्षिण में इनमें से निर्ग्रन्थ संघ प्राचीन है और यापनीय, कूर्चक, श्वेतपट आदि संघ परवर्ती है फिर भी मेरी दृष्टि में निर्ग्रन्थ संघ मूलसंघ नहीं कहा जा सकता है। दक्षिण भारत का यह निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ भद्रबाहु (प्रथम) की परम्परा के उन अचेल श्रमणों का संघ था, जो ईसा पूर्व तीसरी शती में बिहार से उड़ीसा के रास्ते लंका और तमिल प्रदेश में पहुँचे थे। उस समय उत्तर भारत में जैन संघ इसी नाम से जाना जाता था और उसमें गण, शाखा आदि का विभाजन नहीं हुआ था अतः ये श्रमण भी अपने को इसी 'निर्ग्रन्थ' नाम से अभिहित करते रहे। पुनः उन्हें अपने को मूलसंघी कहने की कोई आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि वहाँ तब उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी भी नहीं था। यह निर्ग्रन्थसंघ यापनीय, कूर्चक और श्वेतपट्ट संघ से पृथक् था यह तथ्य भी हल्सी और देवगिरि के अभिलेखों से सिद्ध है क्योंकि इनमें उसे इनसे पृथक् दिखलाया गया है और तब तक इसका निर्ग्रन्थ संघ नाम सुप्रचलित था। पुनः जब लगभग 100 वर्ष के पश्चात् के अभिलेखों में भी यह निर्ग्रन्थसंघ के नाम से ही सुप्रासिद्ध है तो पूर्व में यह अपने को 'मूलसंघ' कहता होगा यह कल्पना निराधार है।

अपने को मूलसंघ कहने की आवश्यकता उसी परम्परा को हो सकती है - जिसमें कोई विभाजन हुआ हो, जो दूसरे को निर्मूल या निराधार बताना चाहती हो; यह बात पं. नाथुराम जी प्रेमी ने भी स्वीकार की है। यह विभाजन की घटना उत्तर भारत में तब घटित हुई जब लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ अचेल और सचेल धारा में विभक्त हुआ। साथ ही उसकी अचेल धारा को अपने लिये एक नये नाम की आवश्यकता प्रतीत हुई। उस समय तक उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ अनेक गणों, शाखाओं और कुलों में विभक्त था - यह तथ्य मथुरा के अनेक अभिलेखों से और कल्पसूत्र की स्थविरावली से सिद्ध है। अतः सम्भावना यही है कि उत्तर भारत की इस अचेल धारा ने अपनी पहचान के लिये 'मूलगण' नाम चुना हो, क्योंकि इस धारा को बोटिक और यापनीय -- ये दोनों ही नाम दूसरों के द्वारा ही दिये गये हैं, जहाँ श्वेताम्बरों अर्थात् उत्तर भारत की सचेल धारा ने उन्हें बोटिक कहा, वहीं दिगम्बरों अर्थात् दक्षिण भारत की निर्ग्रन्थ अचेल धारा ने उन्हें यापनीय कहा। डॉ. गुलाब चन्द चौधरी ने जो यह कल्पना की कि दक्षिण में निर्ग्रन्थ संघ की

भद्रबाहु द्वितीयने की मूझे निराधार प्रतीत होती है¹। दक्षिण भारत का निर्ग्रन्थ संघ तो भद्रबाहु प्रथम की परम्परा का प्रतिनिधि है -- चाहे भद्रबाहु प्रथम दक्षिण गये हो या नहीं गये हो किन्तु उनकी परम्परा ईसा पू. तीसरी शती में दक्षिण भारत में पहुँच चुकी थी, इसके अनेक प्रमाण भी हैं। भद्रबाहु प्रथम के पश्चात् लगभग द्वितीय शती में एक आर्य भद्र हुए हैं, जो विद्वित्तियों के कर्त्ता थे और सम्भवतः वे उत्तर भारत के अचेल पक्ष के समर्थक रहे थे उनके नाम से भद्रान्वय प्रचलित हुई जिसका उल्लेख उदयगिरि (विदिशा) में मिलता है²। मेरी दृष्टि में मूलगण भद्रान्वय, आर्यकुल आदि का सम्बन्ध इसी उत्तर भारत की अचेल धारा से है - जो आगे चलकर यापनीय नाम से प्रसिद्ध हुई। दक्षिण में पहुँचने पर यह धारा अपने को मूलगण या मूलसंघ कहती हो। यह आगे चलकर श्री वृक्षमूल गण, पुन्नागवृक्षमूलगण, नकोपलसम्भूतवृक्षमूलगण आदि अनेक गणों में विभक्त हुई फिर भी सबने अपने साथ मूलगण शब्द कायम रखा। जब इन विभिन्न मूल गणों को कोई एक संयुक्त नाम देन का प्रश्न आया तो उन्हें मूलसंघ कहा गया। कई गणों द्वारा परवर्तीकाल में संघ नाम धारण करने अनेक प्रमाण अभिलेखों में उपलब्ध है। पुनः यापनीय ग्रन्थों के साथ लगा हुआ 'मूल' विशेषण - जैसे ज्ञाचार, मूलाराधना आदि भी इसी तथ्य का सूचक है कि 'मूलसंघ' शब्द का सम्बन्ध यापनीयों से रहा है। अतः नोणमंगल की ताम्रपट्टिकाओं में उल्लेखित मूलसंघ-यापनीय परम्परा का ही पूर्व रूप है उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ की यह धारा जब पहले दक्षिण भारत पहुँची तो मूलसंघ के नाम से अभिहित हुई और उसके लगभग 100 वर्ष पश्चात् इसे यापनीय नाम मिला। हम यह भी देखते हैं कि उसे यापनीय नाम मिलते ही अभिलेखों से मूलसंघ नाम लुप्त हो जाता है और लगभग चार सौ पचास वर्षों तक हमें मूलसंघ का कहीं कोई भी लेख उपलब्ध नहीं होता है। नोणमंगल की ई. सन् 425 की ताम्र पट्टिकाओं के पश्चात् सन् 860 के अभिलेख में पुनः मूलसंघ का उल्लेख देशीयगण के साथ मिलता है। तथ्य है कि इस अभिलेख में मूलसंघ के साथ देशीयगण और पुस्तकगच्छ का उल्लेख है किन्तु कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख नहीं है। ज्ञातव्य है कि पहले यह लेख ताम्रपट्टिका पर था जो 12वीं शती में इसमें कुछ अंश जोड़कर पत्थर पर अंकित करवाया गया इस जुड़े हुए पत्थर में ही कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख है³। इसके दो सौ वर्ष पश्चात् से यापनीयगण और मूलसंघ आदि अन्य गण सभी अपने को मूलसंघीय कहते प्रतीत होते हैं।

इतना निश्चित है कि मूलसंघ के साथ कुन्दकुन्दान्वय सम्बन्ध भी परवर्ती काल में जुड़ा है किन्तु कुन्दकुन्दान्वय का सर्व प्रथम अभिलेखीय उल्लेख ई. सन् 797 और 802 में मिलता है⁴, किन्तु इन दोनों लेखों में पुस्तकगच्छ और मूलसंघ का उल्लेख नहीं है। आश्चर्य है कि ऐतिहासिक स्रोतों में तो दसवीं शती के पूर्व मूलसंघ और कुन्दकुन्दान्वय का कहीं कोई उल्लेख

¹ जैनशिलालेखसंग्रह, भाग 3, भूमिका, पृ. 23।

² जैनशिलालेखसंग्रह, भाग 2, लेखक्रमांक ७६१।

³ जैनशिलालेखसंग्रह, भाग 2, लेखक्रमांक १०० एव १०३ (मन्ने के ताम्रपत्र)।

नहीं है। वस्तुतः कुन्दकुन्द शुद्ध आचार के प्रतिपादक एवं प्रभावशाली आचार्य थे और मूलसंघ महावीर की प्राचीन मूलधारा का सूचक था, अतः परवर्तीकाल में सभी अचेल परम्पराओं उससे अपना सम्बन्ध जोड़ना उचित समझा। मात्र उत्तर भारत का काष्ठासंघ और उसका माथुरगच्छ ऐसा था जिसने अपने को मूलसंघ एवं कुन्दकुन्दान्वय से जोड़ने का कभी प्रयास नहीं किया। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि काष्ठासंघ मुख्यतः उत्तर भारत से सम्बन्धित था और इस क्षेत्र में 12-13वीं शती तक कुन्दकुन्दान्वय का प्रभाव अधिक नहीं था। वस्तुतः मूलसंघ मात्र एक नाम था, जिसका उपयोग 9-10वीं शती से दक्षिण भारत की अचेल परम्परा की सभी शाखायें करने लगी थी। शायद उत्तर भारत की अचेल परम्परा भी अपनी मौलिकता सूचित करने हेतु इस विरुद्ध का प्रयोग करने लगी हो।

माथुरसंघ

माथुरसंघ भी मुख्यतः दिगम्बर परम्परा का ही संघ है। मथुरा से प्राप्त पूर्व में उल्लेखित तीन अभिलेखों को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी श्वे. माथुर संघ का उल्लेख नहीं मिलता है, लेकिन उपरोक्त तीनों अभिलेखों के आधार पर हम यह मानने के लिए विवश हैं कि ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में श्वे. माथुरसंघ का अस्तित्व था। यद्यपि यह बात भिन्न है कि यह माथुरसंघ श्वेताम्बर मुनियों का कोई संगठन न होकर मथुरा के श्वेताम्बर श्रावकों का एक संगठन था और यही कारण है कि श्वे. माथुर संघ के अभिलेख मथुरा से अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं हुए। यदि श्वेताम्बर माथुर संघ मुनियों का कोई संगठन होता तो इसका उल्लेख मथुरा से अन्यत्र अभिलेखों और साहित्यिक स्रोतों से मिलना चाहिये था। पुनः इन तीनों अभिलेखों में मुनि और आचार्य के नामों के उल्लेख का अभाव यही सूचित करता है कि यह संघ श्रावकों का संघ था।

जहाँ तक दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है उसमें माथुरसंघ नामक एक मुनि संघ था और उसकी उत्पत्ति विक्रम संवत् 953 में आचार्य रामसेन से मानी जाती है। माथुरसंघ का साहित्यिक उल्लेख इन्द्रनदी के श्रुतावतार और देवसेन के दर्शनसार में मिलता है। इन्द्रनदी ने इस संघ की गणना जैनाभासों में की है और निष्पिच्छक के रूप में इसका उल्लेख किया है। देवसेन ने भी दर्शनसार में इसे निष्पिच्छक बताया है। यद्यपि इसकी उत्पत्ति विक्रम सं. 953 में बताई गई है किन्तु उसका सर्वप्रथम साहित्यिक उल्लेख अमितगति के सुभाषितरत्नसंदोह में मिलता है जो कि मुंज के शासन काल में (विक्रम 1050) में लिखा गया। सुभाषितरत्न संदोह के अतिरिक्त वर्धमाननीति, धर्मपरीक्षा, पंचसंग्रह, तत्त्वभावना उपासकाचार आदि भी इनकी कृतियाँ हैं। अभिलेखीय स्रोतों की दृष्टि से इस संघ का सर्व प्रथम उल्लेख विक्रम सं. 1166 में अथुर्ना के अभिलेख में मिलता है। दूसरा अभिलेखीय उल्लेख 1226 के बिजोलिया के मन्दिर का है, इसके बाद के अनेक अभिलेख इस संघ के मिलते हैं। ज्ञातव्य है कि अपनी उत्पत्ति के कुछ ही वर्ष बाद यह संघ काष्ठासंघ का एक अंग बन गया और परवर्ती उल्लेख काष्ठासंघ की एक शाखा माथुरगच्छ के रूप में मिलते हैं।

यदि हम काल की दृष्टि से विचार करें तो यह पाते हैं कि श्वे. माथुरसंघ और दिगम्बर माथुरसंघ की उत्पत्ति लगभग समकालीन है। क्योंकि श्वे. माथुरसंघ के उल्लेख भी 11-12वीं शताब्दी में ही मिलते हैं। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा में खरतर, तपा, अंचल आदि महत्वपूर्ण गच्छों का उद्भव काल भी यही है, फिर भी इन गच्छों में माथुर संघ का स्पष्ट अभाव होने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि माथुर संघ श्वे. जैन मुनियों का संगठन न होकर मथुरा निवासी श्वे. श्रावकों का एक संगठन था। आश्चर्य यह भी है कि इन अभिलेखों में श्वे. माथुरसंघ का उल्लेख होते हुए भी कहीं किसी मुनि या आर्या का नामोल्लेख नहीं है। इस आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि श्वे. माथुरसंघ मथुरा के श्रावकों का ही एक संगठन था। श्वेताम्बरों में आज भी नगर के नाम के साथ संघ शब्द जोड़कर उस नगर के श्रावकों को उसमें समाहित किया जाता है। अतः निष्कर्ष यही है कि श्वे. माथुरसंघ मथुरा के श्रावकों का संघ था और उसका मुनि परम्परा अथवा उनके गच्छों से कोई सम्बन्ध नहीं था।

इस लेख के अंत में मैं विद्वानों से अपेक्षा करूँगा कि श्वेताम्बर माथुर संघ के सम्बन्ध में यदि उन्हें कोई जानकारी हो तो मुझे अवगत करायें, ताकि हम इस लेख को और अधिक प्रमाण पुरस्सर बना सकें।

Pick a **PINKY**
and
let your writing sparkle

LION
PINKY

the Prettiest Pencil
in town

Now from Lion Pencils,
here's another novelty....

the Pearl finished LION PINKY Pencil,
a pretty pencil to behold.
Superb in looks, super smooth in writing with its
HB Lead strongly bonded to give you unbreakable
points.

Also available with rubber tip and hexagonal

Other popular brands of
Lion Pencils are :
Lion **MOTO**, Lion **TURBO**, Lion **SWEETY**,
Lion **CONCORD**, Lion **EXECUTIVE** and
Lion **GEOMATIC** Drawing Pencils

LION PENCILS LTD.

Parijat, 95 Marine Drive,
BOMBAY - 400 002

जैन दृष्टि में नारी की अवधारणा

- डॉ. श्रीरंजन सुरिदेव

धर्मपत्नी, भोगपत्नी, दासीपत्नी, परस्त्री, वेश्या आदि भेद से नारियाँ कई प्रकार की कही गई हैं। जैनागमों में नारियों की भरपूर निन्दा की गई है, तो उन्हें सती मानकर पूजनीया भी बताया गया है। जो मिथ्यात्व आदि दोषों से अपने-आपको आच्छादित करती है और मधुर सम्भाषणों से दूसरों को भी दूषित करती है; इसलिए आच्छादन-स्वभाव की होने के कारण उन्हें 'स्त्री' कहा गया है। प्रसिद्ध कर्म-ग्रन्थ 'गोम्मटसार'^१ में उल्लेख है कि जो पुरुष की आकांक्षा करती है, उसे 'स्त्री' कहते हैं : 'पुरुषं स्तृणाति आकांक्षतीति स्त्री अर्थात् स्त्री स्वभावतः पुरुषाकांक्षिणी होती है।

'भगवतीआराधना'^२ में स्त्री के कतिपय पर्यायवाची शब्दों की व्युत्पत्ति (गाथा ६७१-६७५) इस प्रकार उपन्यस्त की गई है : स्त्री पुरुष को मारती है, इसलिए उसे 'वधू' कहते हैं। पुरुषों में दोष को उत्पन्न करती है, इसलिए वह 'स्त्री' है। मनुष्य के लिए इसके समान दूसरा कोई शत्रु (न+अरि) नहीं है, इसलिए वह 'नारी' कहलाती है। वह पुरुष को प्रमत्त बनाती है, इसलिए वह 'प्रमदा' मानी गई है। पुरुष के गले में वह अनर्थों को बांधती है अथवा पुरुष को देखकर उसमें लीन हो जाती है, अतः उसको 'विलया' कहते हैं। वह पुरुष को दुःख से सुयुक्त करती है, अतः उसे 'युक्ती' और 'योषा' भी कहा जाता है। उसके हृदय में धैर्य और बल नहीं रहता, इसलिए उसे 'अबला' कहते हैं। कुत्सित मरण का उपाय उत्पन्न करने के कारण उसकी संज्ञा 'कुमारी' है। वह पुरुष पर दोषारोपण करती है, इसलिए उसको 'महिला' नाम दिया गया है। इस प्रकार स्त्रियों के जितने भी नाम हैं, वे सब अशुभ हैं। स्त्रीवेद (स्त्री होने की अनुभूति) का उदय होने पर पुरुष की अभिलाषा-रूप मैथुन संज्ञा से आक्रान्त जीव भाव-स्त्री हो जाता है और फिर, रोम-रहित मुख, स्तन-योनि आदि चिन्हों से युक्त होने पर भावस्त्री द्रव्यस्त्री में परिणत हो जाती है। दूसरे शब्दों में स्त्री वेद का उदय होने पर जो जीव गर्भ धारण करता है, वह द्रव्यस्त्री है।

१. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) - नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, टीका गाथा २७४।

२. भगवती आराधना - शिवार्थ, सं. एवं अनु. पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, जीवराज जैन ग्रन्थमाला (हिन्दी) सं. ३७, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, सं.प्र. १९७८, खण्ड १, पृ. ५३७-५३८।

स्त्रियों के भेद

‘लाटीसंहिता’^१ (2-178-206) में स्त्रियों के अवस्था-भेद को भी बड़ी विशदता से उपस्थापित किया गया है :-

देव शास्त्र और गुरु को नमस्कार कर तथा अपने भाई बन्धुओं के साक्षीपूर्वक जिस कन्या के साथ विवाह किया जाता है, उसे विवाहिता स्त्री या स्वस्त्री कहते हैं। ऐसी विवाहिता स्त्रियों से भिन्न अन्य सब पत्नियाँ ‘दासी’ कहलाती हैं। विवाहिता भी दो प्रकार की होती हैं। एक तो परम्परागत रूप से ब्याही गई अपनी जाति की कन्या और दूसरी अन्य जाति की ब्याही गई कन्या। अपनी जाति की ब्याही गई कन्या धर्मपत्नी कहलाती हैं। वही समस्त दैव और पितृकार्यों में अपने पुरुष के साथ रहती है। उस धर्मपत्नी से उत्पन्न पुत्र ही पिता के धर्म का अधिकारी होता है और वही गोत्ररक्षा करने वाला समस्त लोक का अविरोधी पुत्र होता है किन्तु अन्य जाति की विवाहिता स्त्री के पुत्र को उपर्युक्त किसी भी कार्य का अधिकार नहीं है।

पिता की साक्षीपूर्वक अन्य जाति की कन्या से जो विवाह किया जाता है, वह भोगपत्नी कहलाती है, क्योंकि वह केवल भोग्या होती है, अन्य धर्मकार्यों में सहभागिनी नहीं होती।

अपनी जाति तथा पर जाति के भेद से स्त्रियाँ दो प्रकार की होती हैं। जिसके साथ विवाह नहीं हुआ, वैसी स्त्री ‘दासी’ या ‘चेटी’ कहलाती है। यह दासी केवल भोगाभिनिषिणी होती है। दासी और भोग पत्नी केवल भोगोपभोग के काम आती हैं। लौकिक दृष्टि से इन दोनों में भेद होने पर भी परमार्थतः कोई भेद नहीं है।

परस्त्री भी दो प्रकार की होती है -- एक अधीन रहने वाली और दूसरी स्वाधीन रहने वाली। पहली को गृहीता कहते हैं और दूसरी को अगृहीता। इनके अतिरिक्त तीसरी, वेश्या भी परस्त्री कहलाती है।

गृहीता ही विवाहिता है। यह दो प्रकार की होती है : सधवा और विधवा। विधवा गृहीता तभी होगी, जब वह पति की मृत्यु के बाद पिता, भाई-बन्धु अथवा जेठ या देवर के अधीन रहती हो। इसके अतिरिक्त वह दासी स्त्री भी गृहीता ही होती है, जिसका पति घर का स्वामी हो या ‘गृहपति’ पद पर प्रतिष्ठित हो। यदि वह दासी किसी की रखैल न होकर स्वतन्त्र हो, तो वह गृहीता दासी के समान होकर भी अगृहीता होती है। गृहीता विधवा के यदि पिता, भाई-बन्धु, या जेठ-देवर आदि सभी मर जायें और वह अकेली रह जाय, तो वह गृहीता न होकर अगृहीता होती है। ऐसे स्त्रियों के साथ संसर्ग करने वाले को, पता चल जाने पर, राज्य की ओर से कठोर दण्ड मिलता था। कुछ समाज-व्यवस्थापकों का मत है कि भाई-बन्धु से सर्वथा विहीन होने पर भी विधवा स्त्री अगृहीता न होकर गृहीता ही रहती है क्योंकि, उसमें

१. लाटी संहिता-राजमल्ल, माणिक चन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला सं. २६, बम्बई, प्र.सं. १९२७, सर्ग २/१७८-२०६।

गृहीता के लक्षण होते हैं और वह नीतिमार्ग का उल्लंघन नहीं करती। ऐसी स्त्री राजा द्वारा ग्रहण कर लिये जाने के कारण भी गृहीता कहलाती है।

तत्कालीन नारी-विषयक नैतिक मान्यता थी कि राजा संसार भर का स्वामी होता है। इस नीति के अनुसार ऐसी विधवा को गृहीता ही मानना चाहिए, चाहे वह माता-पिता के साथ रहती हो या अकेली। उक्त नीतिकारों की मान्यता के अनुसार अगृहीता नारी वह है, जिसके साथ संसर्ग करने पर राजभय न हो।

इन नारियों के अतिरिक्त कुलटाएँ भी होती हैं। इनमें भी कुछ गृहीता होती हैं और कुछ अगृहीताएँ। निष्कर्ष में बताया गया है कि सभी सामान्य स्त्रियाँ गृहीता में अन्तर्भूत हैं और इनसे इतर स्त्रियाँ अगृहीता होती हैं।

स्त्रियाँ चेतन और अचेतन भेद से चार प्रकार की होती हैं। तिर्यघ (पशु-पक्षी आदि), मनुष्य और देव जाति की स्त्रियाँ चेतन हैं तथा काष्ठ, पाषाण, मृत्तिका आदि की बनी स्त्रियाँ अचेतन हैं।

स्त्री अपनी दोषबहुलता के कारण जहाँ निन्दा का कारण है, वहीं अपनी गुणातिशयता के कारण प्रशंसा की भूमि है। इसी प्रकार पुरुष भी अपने दोषों से निन्दनीय और गुणों से प्रशंसनीय होता है। कतिपय स्त्रियाँ 'भगवती आराधना'^१ (गाथा ६८६-६९६) के उल्लेखानुसार, अपने गुणातिशय से मुनियों द्वारा वन्दनीय होती हैं। कतिपय यशस्विनी स्त्रियाँ मनुष्यलोक में देवता की तरह पूजनीय हुई हैं। शलाका पुरुषों को जन्म देने वाली स्त्रियाँ देवों और मनुष्यों में प्रमुख हैं। कुछ स्त्रियाँ एक पतिव्रत धारण करती हैं और कुछ आजन्म अविवाहिता रहकर निर्मल ब्रह्मचर्य व्रत का अनुष्ठान करती हैं। कुछ स्त्रियाँ तो आमरण तीव्र वैधव्य दुःख सहती हैं। शीलव्रत धारण करने से कतिपय स्त्रियों को शाप और वर देने की शक्ति प्राप्त हुई है। ऐसे स्त्रियों के माहात्म्य का गुणगान देवता भी करते हैं। ऐसी शीलवती स्त्रियों को न जल बहा सकता है, न अग्नि जला सकती है। वे अतिशय शीतल होती हैं। ऐसी स्त्रियों को साँप, बाघ आदि हिंस्र जन्तु हानि नहीं पहुँचाते। ऐसी शीलवती स्त्रियाँ श्रेष्ठ पुरुषों की जननी के रूप में लोक पूजित हैं।

'कुरलकाव्य'^२ (६.५८) के अनुसार जो स्त्रियाँ सभी देवों को छोड़कर केवल पतिदेव की पूजा करती हैं, उनका कहना सजल बादल भी मानते हैं। ऐसी ही महिलाएँ लोकमान्य विद्वान् पुत्र को जन्म देती हैं और जिनकी स्तुति स्वर्गस्थ देवता भी करते हैं। ऐसी ही स्त्रियाँ पृथिवी का गौरवालंकार होती हैं।

१. भगवती आराधना - शिवार्थ, सं. एवं अनु. पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री जीवराज जैन ग्रन्थमाला (हिन्दी) सं. ३७, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, सं.प्र. १९७८, खण्ड १, पृ. ५३७-५३८।

२. कुरलकाव्य - एलाचार्य, अनु. पं. गोविन्दराय जैन, नीतिधर्म ग्रन्थमाला सं. १, प्र. अनुवादक, महारौनी, झांसी, सं. १९५७, परि ६/५-८।

जैनमत ' (भगवती आराधना'^१, ४२१, ६१५-६) में स्त्री को पुरुष से कनिष्ठ माना गया है; क्योंकि वह अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकती और दूसरों की इच्छा का विषय बनती है। उसमें स्वभावतः भय रहता है, दुर्बलता रहती है। पुरुष में यह बात नहीं होती, इसलिए वह स्त्री से ज्येष्ठ होता है। कुरलकाव्य^२ (६.१, ६, ७) के अनुसार मात्र चारदीवारी के अन्दर परदे में रहने से भी स्त्रियों की रक्षा सम्भव नहीं; उसका सर्वोत्तम रक्षक इन्द्रिय-निग्रह ही है।



-
१. भगवती आराधना - शिवार्थ, सं. एवं अनु. पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री जीवराज जैन ग्रन्थालय (हिन्दी) सं. ३७, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, भीलापुर, सं. प्र. १९७८, खण्ड १।
 २. कुरलकाव्य - एलाचार्य, अनु. पं. गोविन्दराव जैन, नीतिधर्म ग्रन्थमाला सं. १, प्र. अनुवादक, महरानी, झांसी, प्र. सं. १९५७, परि ६/५-८।

पूर्णमागच्छ का संक्षिप्त इतिहास

- शिव प्रसाद

मध्ययुग में श्वेताम्बर श्रमण संघ का विभिन्न गच्छों और उपागच्छों के रूप में विभाजन एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। श्वेताम्बर श्रमण संघ की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्णशाखा चन्द्रकुल [बाद में चन्द्रगच्छ] का विभिन्न कारणों से समय-समय पर विभाजन होता रहा, परिणामस्वरूप अनेक नये-नये गच्छों का प्रादुर्भाव हुआ, इनमें पूर्णिमागच्छ भी एक है। पाक्षिकपर्व पूर्णिमा को मनायी जाये या चतुर्दशी को ? इस प्रश्न पर पूर्णिमा का पक्ष ग्रहण करने वाले चन्द्रकुल के मुनिगण पूर्णिमापक्षीय या पूर्णिमागच्छीय कहलाये। वि.सं. 1149/ ई. सन् 1093 अथवा वि.सं. 1159/ई. सन् 1103 में इस गच्छ का आविर्भाव माना जाता है। चन्द्रकुल के आचार्य जयसिंहसूरि के शिष्य चन्द्रप्रभसूरि इस गच्छ के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। इस गच्छ में धर्मघोषसूरि, देवसूरि, चक्रेश्वरसूरि, समुद्रघोषसूरि, विमलगणि, देवभद्रसूरि, तिलकाचार्य, मुनिरत्नसूरि, कमलप्रभसूरि आदि तेजस्वी विद्वान् एवं प्रभावक आचार्य हुए हैं। इस गच्छ के पूनभियागच्छ, राकापक्ष आदि नाम भी बाद में प्रचलित हुए। इस गच्छ से कई शाखायें उद्भूत हुईं, जैसे प्रधानशाखा या ढंढेरिया शाखा, साधुपूर्णमा या सार्धपूर्णमाशाखा, कच्छोलीवालशाखा, भीमपल्लीयाशाखा, बटपद्रीयाशाखा, वोरसिद्धीयाशाखा, भृगुकच्छीयाशाखा, छापरियाशाखा आदि।

पूर्णमागच्छ के इतिहास के अध्ययन के लिये सद्भाग्य से हमें विपुल परिमाण में साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध हैं। साहित्यिक साक्ष्यों के अर्न्तगत इस गच्छ के मुनिजनों द्वारा लिखित ग्रन्थों की प्रशस्तियां, गच्छ के विद्यानुयागी मुनिजनों की प्रेरणा से प्रतिलिपि करायी गयी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की प्रतिलिपि की प्रशस्तियां तथा पट्टावलिियां प्रमुख हैं। अभिलेखीय साक्ष्यों के अर्न्तगत इस गच्छ के मुनिजनों की प्रेरणा से प्रतिष्ठापित तीर्थकर प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेखों की चर्चा की जा सकती है। उक्त साक्ष्यों के आधार पर पूर्णिमागच्छ के इतिहास पर प्रकाश डालना ही प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है। अध्ययन की सुविधा हेतु सर्वप्रथम साहित्यिक साक्ष्यों और तत्पश्चात् अभिलेखीय साक्ष्यों का विवरण प्रस्तुत है :-

दर्शनशुद्धि

यह पूर्णिमागच्छ के प्रकटकर्ता आचार्य चन्द्रप्रभसूरि की कृति है। इनकी दूसरी रचना है - प्रमेयरत्नकोश। इन रचनाओं में ग्रन्थकार ने अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख नहीं किया है,

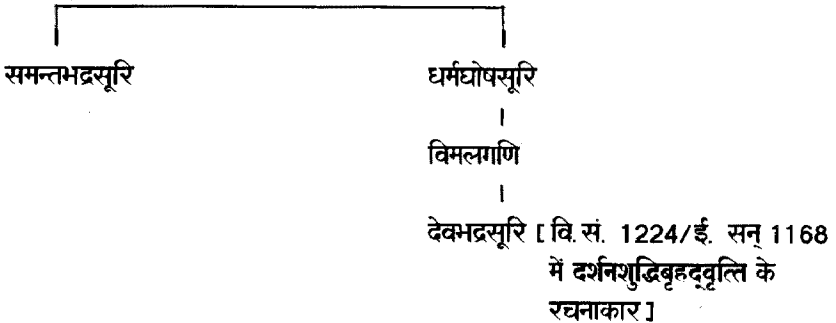
परन्तु इनके प्रशिष्य विमलगाणि ने अपने दादागुरु की रचना पर वि.सं. 1181/ई. सन् 1125 में वृत्ति लिखी, जिसको प्रशस्ति में उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा का सुन्दर परिचय दिया है^१ वह इस प्रकार है :

सर्वदेवसूरि
|
जयसिंहसूरि
|
चन्द्रप्रभसूरि [दर्शनशुद्धि के रचनाकार]
|
धर्मघोषसूरि
|
विमलगाणि [वि.सं. 1181/ई. सन् 1125
में दर्शनशुद्धिवृत्ति के रचनाकार]

दर्शनशुद्धिबृहद्वृत्ति

पूर्णिमागच्छीय विमलगाणि के शिष्य देवभद्रसूरि ने वि.सं. 1224/ई. सन् 1168 में अपने गुरु की कृति दर्शनशुद्धिवृत्ति पर बृहद्वृत्ति की रचना की। इसकी प्रशस्ति में उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा इस प्रकार दी है^२ :

जयसिंहसूरि
|
चन्द्रप्रभसूरि
|



प्रश्नोत्तररत्नमालावृत्ति

यह पूर्णिमागच्छीय हेमप्रभसूरि की कृति है। रचना के अंत में वृत्तिकार ने अपनी गुरु-परम्परा और रचनाकाल का उल्लेख किया है^३, जो इस प्रकार है :

चन्द्रप्रभसूरि

|

धर्मघोषसूरि

|

यशोघोषसूरि

|

हेमप्रभसूरि [वि. सं. 1223/ई. सन् 1167 में

प्रश्नोत्तररत्नमालावृत्ति के रचनाकार]

अममस्वामिचरितमहाकाव्य

पूर्णमागच्छीय समुद्रघोषसूरि के विद्वान् शिष्य मुनिरत्नसूरि द्वारा यह प्रसिद्ध कृति वि. सं. 1252/ई. सन् 1196 में रची गयी है। रचना के अन्त में प्रशस्ति के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने अपनी गुरु-परम्परा दी है⁴, जो इस प्रकार है :

चन्द्रप्रभसूरि [पूर्णिमागच्छ के प्रवर्तक]

|

धर्मघोषसूरि

|

समुद्रघोषसूरि

|

मुनिरत्नसूरि [वि. सं. 1152/ई. सन् 1196

में अममस्वामिचरितमहाकाव्य के रचनाकार]

प्रत्येकबुद्धचरित

पूर्णमागच्छीय शिवप्रभसूरि के शिष्य श्रीतिलकसूरि अपरनाम तिलकाचार्य ने वि. सं. 1261/ई. सन् 1205 में इस ग्रन्थ की रचना की। श्रीतिलकसूरि द्वारा रचित कई कृतियाँ मिलती हैं। श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने इनकी गुरु-परम्परा का उल्लेख किया है⁵, जो इस प्रकार है :

चन्द्रप्रभसूरि [पूर्णिमागच्छ के प्रकटकर्ता]

|

धर्मघोषसूरि

|

चक्रेश्वरसूरि

|

शिवप्रभसूरि

श्रीतिलकसूरि [वि. सं. 1261/ई. सन् 1205 में
प्रत्येकबुद्धचरित के रचनाकार]

प्रत्येकबुद्धचरित अभी अप्रकाशित है।

शान्तिनाथचरित

यह कृति पूर्णिमागच्छ के अजितप्रभसूरि द्वारा वि. सं. 1307 में रची गयी है। जैसलमेर और पाटण के ग्रन्थ भंडारों में इसकी प्रतियां संरक्षित हैं। कृति के अन्त में ग्रन्थकार ने अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख किया है⁶, जो इस प्रकार है :

चन्द्रप्रभसूरि

देवसूरि

तिलकप्रभसूरि

वीरप्रभसूरि

अजितप्रभसूरि [वि. सं. 1307/ई. सन् 1251
में शान्तिनाथचरित के रचनाकार]

पुण्डरीकचरित

पूर्णिमापक्षीय चन्द्रप्रभसूरि की परम्परा में हुए रत्नप्रभसूरि के शिष्य कमलप्रभसूरि ने वि. सं. 1372/1316 में उक्त कृति की रचना की। कृति के अन्त में प्रशस्ति के अर्न्तगत उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा का इस प्रकार विवरण दिया है⁷ :

चन्द्रप्रभसूरि

चक्रेश्वरसूरि

त्रिदशप्रभसूरि

धर्मप्रभसूरि

अभयप्रभसूरि

|
रत्नप्रभसूरि

|
कमलप्रभसूरि [वि.सं. 1372/ई. सन् 1316 में
पुण्डरीकचरित के रचनाकार]

क्षेत्रसमाप्तवृत्ति

यह कृति पूर्णिमागच्छीय पद्मप्रभसूरि के शिष्य देवानन्दसूरि द्वारा वि.सं. 1455/ई. सन् 1399 में रची गयी है। कृति के अन्त में प्रशस्ति के अर्न्तगत रचनाकार ने अपनी लम्बी गुरु-परम्परा का उल्लेख किया है⁸, जो इस प्रकार है:

चन्द्रप्रभसूरि

|

धर्मघोषसूरि

|

भद्रेश्वरसूरि

|

मुनिप्रभसूरि

|

सर्वदेवसूरि

|

सोमप्रभसूरि

|

रत्नप्रभसूरि

|

चन्द्रसिंहसूरि

|

देवसिंहसूरि

|

पद्मतिलकसूरि

|

श्रीतिलकसूरि

|

देवचन्द्रसूरि

|

।
पद्मप्रभसूरि

।
देवानन्दसूरि [वि. सं. 1455/ई. सन् 1399 में
क्षेत्रसमासवृत्ति के रचनाकार]

श्रीपालचरित

पूर्णमागच्छीय गुणसमुद्रसूरि के शिष्य सत्यराजगणि द्वारा संस्कृत भाषा में रचित 500 श्लोकों की यह कृति वि. सं. 1514 में रची गयी है। इसकी वि. सं. 1575/ई. सन् 1519 की एक प्रतिलिपि जैसलमेर के ग्रन्थभंडार में संरक्षित है। रचना के अन्त में प्रशस्ति के अन्तर्गत रचनाकार ने अपनी गुरु-परम्परा का विस्तृत परिचय न देते हुए मात्र अपने गुरु का ही नामोल्लेख किया है⁹ :

गुणसमुद्रसूरि

।
सत्यराजगणे [वि. सं. 1514/ई. सन् 1458 में श्रीपालचरित के रचनाकार]

पूर्णमागच्छगुर्वावली

यह गुर्वावली पूर्णमागच्छ के सुमतिरत्नसूरि के शिष्य उदयसमुद्रसूरि द्वारा वि. सं. 1580/ई. सन् 1524 में रची गयी है¹⁰। इसमें उल्लिखित पूर्णमागच्छ के आचार्यों का क्रम निम्नानुसार है :

चन्द्रगच्छीय चन्द्रप्रभसूरि [पूर्णमागच्छ के प्रवर्तक]

।
धर्मघोषसूरि

।
देवभद्रसूरि

।
जिनदत्तसूरि

।
शांतिभद्रसूरि

।
भुवनतिलकसूरि

।
रत्नप्रभसूरि

|
हेमतिलकसूरि

|
हेमरत्नसूरि

|
हेमप्रभसूरि

|
रत्नशेखरसूरि

|
रत्नसागरसूरि

|
गुणसागरसूरि

|
गुणसमुद्रसूरि

|
सुमतिप्रभसूरि

|
पुण्यरत्नसूरि

|
सुमतिरत्नसूरि

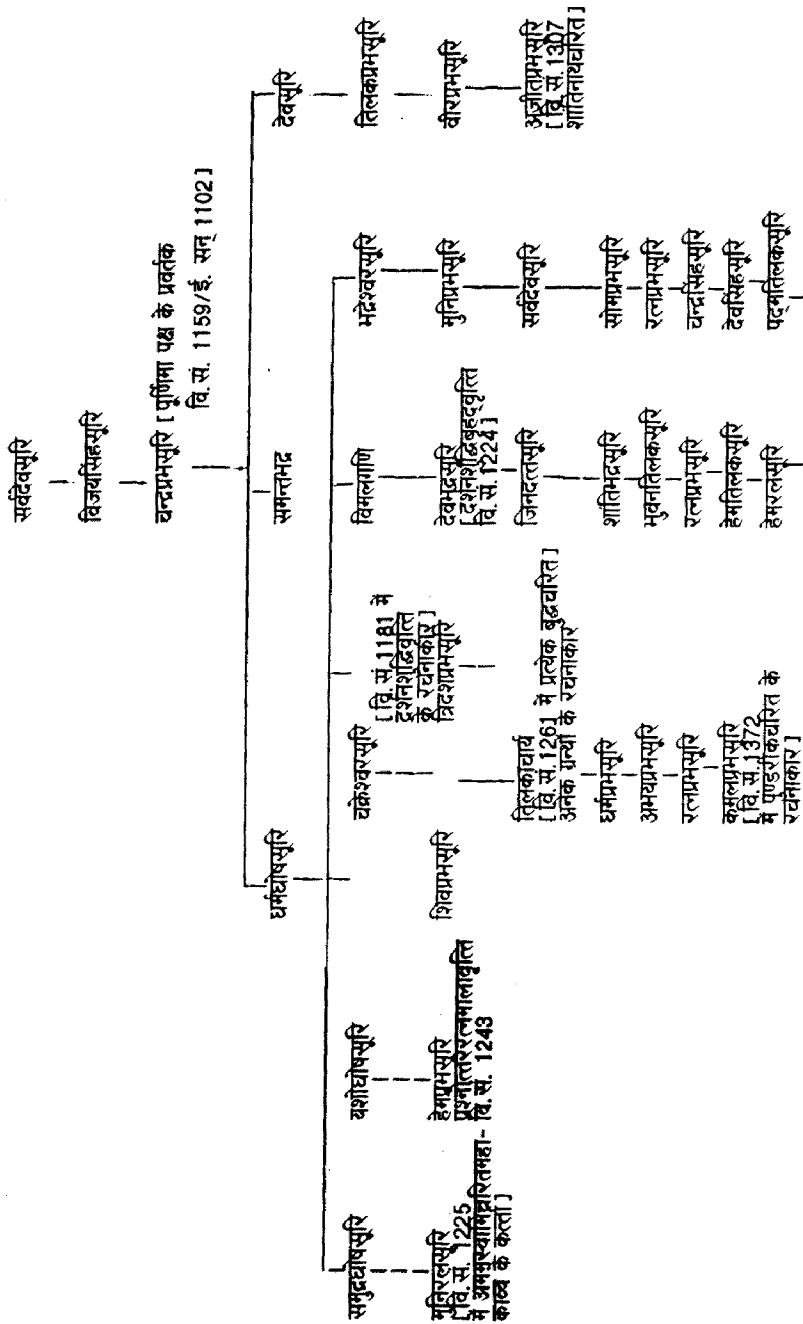
|
उदयसमुद्रसूरि [वि. सं. 1580/ई. सन् 1524 में

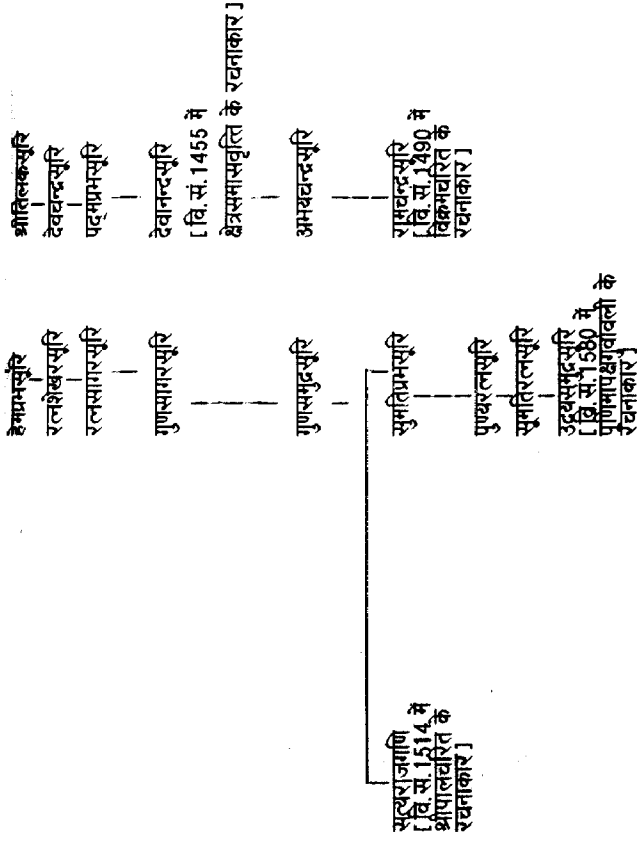
पूर्णमागच्छगुर्वावली के रचनाकार]

पूर्णमागच्छीय रचनाकारों की पूर्वोक्त कृतियों की प्रशस्तियों से उपलब्ध छोटी-बड़ी श्रुतिवर्णियों के आधार पर इस गच्छ के मुनिजनों की गुरु-परम्परा की एक विस्तृत तालिका की संरचना की जा सकती है, जो इस प्रकार है :

दृश्य - तालिका संख्या-1.

तालिका 1 : प्रशस्त्रियों के आधार पर निर्मित पूर्णिमापक्ष के आचार्यों की गुरु-परम्परा





पूर्णमागच्छीय मुनिजनों द्वारा प्रतिष्ठापित 400 से अधिक जिनप्रतिमायें आज मिलती हैं। इन पर वि. सं. 1368 से वि. सं. 1774 तक के लेख उत्कीर्ण हैं। इन प्रतिमालेखों में इस गण्य के विभिन्न मुनिजनों के नाम मिलते हैं, परन्तु उनमें से कुछ के पूर्वापर सम्बन्ध ही स्थापित हो पाते हैं। इनका विवरण इस प्रकार है :

सर्वाणंदसूरि

इनके द्वारा प्रतिष्ठापित तीन प्रतिमायें मिली हैं जिनपर वि. सं. 1480 से वि. सं. 1488 तक के लेख उत्कीर्ण हैं। इनका विवरण इस प्रकार है :

वि. सं. 1480	ज्येष्ठ सुदि 7 मंगलवार	प्र. ले. सं.	लेखांक	223
वि. सं. 1481	वैशाख वदि 12 रविवार	बी. जै. ले. सं.	लेखांक	704
वि. सं. 1485	ज्येष्ठ सुदि 7 मंगलवार	जै. ले. सं. भाग-2	लेखांक	1241

गुणसागरसूरि

आप द्वारा प्रतिष्ठापित 6 प्रतिमायें मिली हैं, जिन पर वि. सं. 1483 से वि. सं. 1511 तक के लेख उत्कीर्ण हैं। इनका विवरण इस प्रकार है :-

वि. सं. 1483	वैशाख सुदि 5 गुरुवार	जै. धा. प्र. ले. सं. भाग 2	लेखांक	465
वि. सं. 1483	फाल्गुन सुदि 10 गुरुवार	वही, भाग 2	लेखांक	1014
वि. सं. 1483	फाल्गुन सुदि 10 गुरुवार	वही, भाग 1	लेखांक	1178
वि. सं. 1486	वैशाख सुदि 3	वही, भाग 1	लेखांक	1067
वि. सं. 1504	ज्येष्ठ सुदि 9 रविवार	वही, भाग 1	लेखांक	1171
वि. सं. 1511	आषाढ वदि 9 शनिवार	बी. जै. ले. सं.	लेखांक	945

वि. सं. 1511 के लेख में सर्वाणंदसूरि के पट्टधर (?) के रूप में इनका उल्लेख मिलता है।

गुणसागरसूरि के शिष्य हेमरत्नसूरि

इनके द्वारा प्रतिष्ठापित 2 प्रतिमायें मिली हैं, जो वि. सं. 1486 और वि. सं. 1521 की हैं :-

वि. सं. 1486	ज्येष्ठ सुदि 9 बुधवार	जै. धा. प्र. ले. सं. भाग 2	लेखांक	139
वि. सं. 1521	वैशाख सुदि 3 सोमवार	वही, भाग 1,	लेखांक	847

गुणसागरसूरि के पट्टधर गुणसमुद्रसूरि

इनके द्वारा प्रतिष्ठापित 21 जिन प्रतिमायें मिली हैं, जो वि. सं. 1492 से वि. सं. 1512 तक की हैं। इनका विवरण इस प्रकार है :-

वि. सं. 1492	वैशाख सुदि 3 गुरुवार	प्रा. ले. सं.	लेखांक	158
वि. सं. 1501	वैशाख सुदि 13 गुरुवार	जै. धा. प्र. ले. सं. भाग 1	लेखांक	225
वि. सं. 1501	ज्येष्ठ वदि 9 रविवार	जै. ले. सं. भाग 1	लेखांक	1565
वि. सं. 1504	ज्येष्ठ वदि 9 रविवार	प्रा. ले. सं.	लेखांक	205
वि. सं. 1505	वैशाख सुदि 5 रविवार	जै. धा. प्र. ले. सं. भाग 2	लेखांक	812
वि. सं. 1505	माघ सुदि 5 रविवार	जै. प्र. ले. सं.	लेखांक	360
वि. सं. 1506	वैशाख सुदि 6 शुक्रवार	बी. जै. ले. सं.	लेखांक	2478
वि. सं. 1506	माघ सुदि 7 बुधवार	जै. धा. प्र. ले. सं. भाग 1	लेखांक	1079
वि. सं. 1507	ज्येष्ठ सुदि 6 गुरुवार	वही, भाग 1	लेखांक	425
वि. सं. 1507	माघ सुदि 11 बुधवार	वही, भाग 2	लेखांक	441
वि. सं. 1508	वैशाख सुदि 3 शनिवार	वही, भाग 3	लेखांक	957
वि. सं. 1508	ज्येष्ठ सुदि 13 बुधवार	जै. ले. सं. भाग 3,	लेखांक	2326
वि. सं. 1508	ज्येष्ठ सुदि 13 बुधवार	जै. धा. प्र. ले. सं. भाग 1,	लेखांक	1017
वि. सं. 1509	ज्येष्ठ सुदि 10 गुरुवार	वही, भाग 2	लेखांक	1034
वि. सं. 1510	फाल्गुन सुदि 11 शनिवार	वही, भाग 2	लेखांक	964
वि. सं. 1511	ज्येष्ठ वदि 10 सोमवार	वही, भाग 2	लेखांक	138
वि. सं. 1511	ज्येष्ठ वदि 10 सोमवार	वही, भाग 2	लेखांक	462
वि. सं. 1511	आषाढ सुदि 5 शुक्रवार	वही, भाग 2,	लेखांक	377
वि. सं. 1511	माघ वदि 3 बुधवार	प्रा. ले. सं.,	लेखांक	267
वि. सं. 1511	माघ सुदि 5 गुरुवार	रा. प्र. ले. सं.,	लेखांक	171
वि. सं. 1512	ज्येष्ठ वदि 9 गुरुवार	जै. ले. सं. भाग 3	लेखांक	2136

गुणसमुद्रसूरि के पट्टधर पुण्यरत्नसूरि

आप द्वारा प्रतिष्ठापित 30 सलेख जिन प्रतिमायें मिली हैं, जो वि. सं. 1512 से वि. सं. 1536 तक की हैं। इनका विवरण इस प्रकार है :-

वि. सं. 1512	चैत्र वदि 8 शुक्रवार	अ. प्र. जै. ले. सं.,	लेखांक	582
वि. सं. 1512	ज्येष्ठ सुदि 8 रविवार	जै. धा. प्र. ले. सं. भाग 1,	लेखांक	106
वि. सं. 1515	फाल्गुन सुदि 9 रविवार	रा. प्र. ले. सं.,	लेखांक	192
वि. सं. 1517	वैशाख वदि 8 शुक्रवार	जै. ले. सं. भाग 2,	लेखांक	2085
वि. सं. 1517	माघ वदि 8 बुधवार	श्री. प्र. ले. सं.	लेखांक	71
वि. सं. 1518	फाल्गुन वदि 1 सोमवार	जै. धा. प्र. ले. सं. भाग 2,	लेखांक	170
वि. सं. 1519	वैशाख वदि 11 शुक्रवार	जै. ले. सं. भाग 2,	लेखांक	1567
वि. सं. 1519	वैशाख वदि 11 शुक्रवार	जै. धा. प्र. ले. सं. भाग 2	लेखांक	822

वि. सं. 1520	वैशाख सुदि 11 बुधवार	रा. प्र. ले. सं.	लेखांक	229
वि. सं. 1520	माघ सुदि 10 बुधवार	वही,	लेखांक	180
वि. सं. 1522	फाल्गुन सुदि 3 सोमवार	जै. धा. प्र. ले. सं. भाग 2,	लेखांक	533
वि. सं. 1524	वैशाख सुदि 3 सोमवार	वही, भाग 1	लेखांक	1170
वि. सं. 1524	" "	बी. जै. ले. सं.	लेखांक	1877
वि. सं. 1524	" "	जै. ले. सं. भाग 3	लेखांक	2584
वि. सं. 1524	" "	जै. धा. प्र. ले. सं. भाग 2	लेखांक	1081
वि. सं. 1527	ज्येष्ठ वदि 10 बुधवार	श. वै.	लेखांक	190
वि. सं. 1527	" "	श्री. प्र. ले. सं.,	लेखांक	79
वि. सं. 1528	माघ वदि 5 बुधवार	जै. धा. प्र. ले. सं. भाग 1,	लेखांक	887
वि. सं. 1530	तिथिविहीन	रा. प्र. ले. सं., भाग 1	लेखांक	272
वि. सं. 1531	वैशाख वदि 11 सोमवार	जै. ले. सं., भाग 1	लेखांक	66
वि. सं. 1531	" "	जै. धा. प्र. ले.,	लेखांक	219
वि. सं. 1531	" "	प्रा. ले. सं.,	लेखांक	438
वि. सं. 1531	" "	वही,	लेखांक	439
वि. सं. 1531	" "	वही,	लेखांक	440
वि. सं. 1531	" "	वही,	लेखांक	441
वि. सं. 1531	" "	जै. धा. प्र. ले. सं. भाग 2,	लेखांक	440
वि. सं. 1531	" "	वही, भाग 2	लेखांक	449
वि. सं. 1532	वैशाख वदि 2 शुक्रवार	प्र. ले. सं.	लेखांक	743
वि. सं. 1534	वैशाख सुदि 2 रविवार	वही,	लेखांक	769
वि. सं. 1536	तिथि विहीन	श्री. प्र. ले. सं.,	लेखांक	11

गुणसमुद्रसूरि के पट्टधर गुणधीरसूरि

इनके द्वारा प्रतिष्ठापित 19 प्रतिमायें मिली हैं, जो वि. सं. 1516 से वि. सं. 1536 तक की हैं। इनका विवरण निम्नानुसार है :

वि. सं. 1516	वैशाख वदि 10 गुरुवार	जै. धा. प्र. ले. सं. भाग 1	लेखांक	960
वि. सं. 1516	ज्येष्ठ वदि 9 शुक्रवार	जै. ले. सं. भाग 3	लेखांक	2481
वि. सं. 1516	आषाढ सुदि 3 रविवार	जै. धा. प्र. ले. सं., भाग 1	लेखांक	109
वि. सं. 1516	आषाढ सुदि 3 रविवार	श्री. प्र. ले. सं.,	लेखांक	140
वि. सं. 1516	तिथिविहीन	वही,	लेखांक	32
वि. सं. 1517	फाल्गुन सुदि 3 शुक्रवार	जै. धा. प्र. ले.	लेखांक	165
वि. सं. 1518	ज्येष्ठ वदि 10 रविवार	प्रा. ले. सं.,	लेखांक	325
वि. सं. 1518	ज्येष्ठ वदि 10 रविवार	जै. ले. सं., भाग 3,	लेखांक	2191

वि. सं. 1518	आषाढ सुदि 3 गुरुवार	जै. धा. प्र. ले. सं. भाग	लेखांक	166
वि. सं. 1518	आषाढ सुदि 3 गुरुवार	प्रा. ले. सं.,	लेखांक	326
वि. सं. 1518	आषाढ सुदि 3 गुरुवार	जै. ले. सं. भाग 3	लेखांक	2130
		एवं		
		बी. जै. ले. सं.	लेखांक	2812
वि. सं. 1519	आषाढ सुदि 1 सोमवार	अ. प्र. जै. ले. सं.,	लेखांक	187
वि. सं. 1519	आषाढ वदि 11 शुक्रवार	जै. धा. प्र. ले. सं. भाग 1	लेखांक	1022
वि. सं. 1521	वैशाख सुदि 10 रविवार	अ. प्र. जै. ले. सं.,	लेखांक	84
वि. सं. 1524	वैशाख सुदि 2 रविवार	जै. स. प्र. वर्ष 6 अंक 10		
वि. सं. 1530	माघ सुदि 10 शुक्रवार	श. वै.	लेखांक	203
वि. सं. 1531	वैशाख सुदि 10 शनिवार	जै. धा. प्र. ले. सं. भाग 2	लेखांक	750
वि. सं. 1532	वैशाख वदि 5 सोमवार	जै. ले. सं. भाग 3	लेखांक	2522
वि. सं. 1536	फाल्गुन सुदि 3 सोमवार	श्री. प्र. ले. सं.,	लेखांक	95

चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनालय, चिन्तामणिशेरी-राधनपुर में प्रतिष्ठापित श्रेयांसनाथ की धातु की चौबीसी प्रतिमा पर वि. सं. 1512 माघ सुदि 10 बुधवार का लेख उत्कीर्ण है। इस लेख में प्रतिमाप्रतिष्ठापक आचार्य पुण्यरत्नसूरि तथा उनके पूर्ववर्ती तीन आचार्यों-गुणसागरसूरि, गुणसमुद्रसूरि और सुमतिप्रभसूरि का भी नाम मिलता है, जो इस प्रकार है :-

गुणसागरसूरि

↓

गुणसमुद्रसूरि

↓

सुमतिप्रभसूरि

↓

पुण्यरत्नसूरि [वि. सं. 1512 में श्रेयांसनाथ

की धातु की चौबीसी प्रतिमा के प्रतिष्ठापक]

इस प्रकार पुण्यरत्नसूरि का गुणसमुद्रसूरि और सुमतिप्रभसूरि दोनों के पट्टधर के रूप में उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सुमतिप्रभसूरि और पुण्यरत्नसूरि दोनों परस्पर गुरुभ्राता थे और इन दोनों मुनिजनों के गुरु थे गुणसमुद्रसूरि। गुणसमुद्रसूरि के पश्चात् उनके शिष्य सुमतिप्रभसूरि उनके पट्टधर बने और सुमतिप्रभसूरि के पट्टधर उनके कनिष्ठ गुरुभ्राता पुण्यरत्नसूरि हुए। इसीलिये गुणसमुद्रसूरि और सुमतिप्रभसूरि दोनों के पट्टधर के रूप में पुण्यरत्नसूरि का उल्लेख मिलता है।

उक्त प्रतिमालेखीय साक्ष्यों के आधार पर पूर्णिमागच्छीय मुनिजनों की जो छोटी-छोटी गुर्वावली प्राप्त होती है उन्हें इस प्रकार समायोजित किया जा सकता है :

तालिका 2

सर्वाणदसूरि [वि. सं. 1480-1485]

गुणसागरसूरि [वि. सं. 1483-1511]

हेमरत्नसूरि [वि. सं. 1486]

गुणसमुद्रसूरि [वि. सं. 1492-1512]

सुमतिप्रभसूरि
[मुख्यपट्टधर]

पुण्यरत्नसूरि
[पट्टधर]
[वि. सं. 1512
-1534]
प्रतिमालेख

गुणधीरसूरि
[शिष्यपट्टधर]
[वि. सं. 1516
-1536]
प्रतिमालेख

पूर्णिमागच्छ से सम्बद्ध अभिलेखीय साक्ष्यों से कुछ अन्य मुनिजनों के पूर्वापर सम्बन्ध भी स्थापित होते हैं। इनका विवरण इस प्रकार है :-

मुनिशेखरसूरि के पट्टधर साधुरत्नसूरि

पूर्णिमागच्छीय साधुरत्नसूरि द्वारा प्रतिष्ठापित 28 जिन प्रतिमाये प्राप्त हुई हैं। इन पर वि. सं. 1485 से 1527 तक के लेख उत्कीर्ण हैं। इनका विवरण इस प्रकार है :

वि. सं. 1485	वैशाख सुदि 6 रविवार	जै. धा. प्र. ले.	लेखांक	77
वि. सं. 1485	ज्येष्ठ वदि 5 रविवार	बी. जै. ले. सं.	लेखांक	728
वि. सं. 1485	ज्येष्ठ वदि 11 शनिवार	वही,	लेखांक	1598
वि. सं. 1487	कार्तिक वदि 5 गुरुवार	जै. ले. सं. भाग 3	लेखांक	2300
वि. सं. 1487	माघ सुदि 5 गुरुवार	श. गि. द.,	लेखांक	467
वि. सं. 1489	वैशाख सुदि	प्रा. ले. सं.,	लेखांक	144
वि. सं. 1489	फाल्गुन सुदि 3	जै. ले. सं., भाग 3	लेखांक	2305
वि. सं. 1502	पौष वदि 10 बुधवार	बी. जै. ले. सं.,	लेखांक	861
वि. सं. 1503	ज्येष्ठ सुदि 7 सोमवार	प्रा. ले. सं.,	लेखांक	196
वि. सं. 1506	माघ सुदि 13 रविवार	जै. धा. प्र. ले. सं.,	लेखांक	1130

वि.सं. 1509	वैशाख सुदि 3 शनिवार	बी. जै. ले. सं.,	लेखांक	1435
वि.सं. 1509	पौष वदि 5 रविवार	जै. धा. प्र. ले. सं.,	लेखांक	1435
वि.सं. 1510	ज्येष्ठ सुदि 3 गुरुवार	प्र. ले. सं.,	लेखांक	460
		एवं		
		रा. प्र. ले. सं.,	लेखांक	167
वि.सं. 1510	माघ सुदि 10 बुधवार	श्री. प्र. ले. सं.	लेखांक	221
वि.सं. 1512	माघ सुदि 5 सोमवार	श. गि. द.,	लेखांक	422
वि.सं. 1513	पौष वदि 2 बुधवार	जै. धा. प्र. ले. सं. भाग 1,	लेखांक	1232
वि.सं. 1513	पौष वदि 3 गुरुवार	वही, भाग 2	लेखांक	790
वि.सं. 1515	ज्येष्ठ सुदि 9	श्री. प्र. ले. सं.,	लेखांक	2
वि.सं. 1515	माघ सुदि 1 शुक्रवार	प्रा. ले. सं.,	लेखांक	299
वि.सं. 1515	माघ सुदि 1 शुक्रवार	श्री. प्र. ले. सं.,	लेखांक	56
वि.सं. 1515	माघ सुदि 1 शुक्रवार	जै. धा. प्र. ले. सं. भाग 2	लेखांक	949
वि.सं. 1516	वैशाख वदि 12 शुक्रवार	जै. ले. सं. भाग 1	लेखांक	554
		एवं		
		प्र. ले. सं.	लेखांक	552
वि.सं. 1517	माघ सुदि 5 गुरुवार	श. गि. द.,	लेखांक	485
वि.सं. 1519	वैशाख सुदि 3 गुरुवार	रा. प्र. ले. सं.,	लेखांक	221
वि.सं. 1519	मार्गशिर सुदि 4 गुरुवार	श्री. प्र. ले. सं.,	लेखांक	8
वि.सं. 1522	ज्येष्ठ वदि 8 सोमवार	जै. ले. सं., भाग 3,	लेखांक	2346
वि.सं. 1527	ज्येष्ठ वदि 7 सोमवार	जै. स. प्र. वर्ष 8, अंक 10, पृष्ठ		303
			लेखांक	16

साधुरत्नसूरि के शिष्य (?) श्रीसूरि

इनके द्वारा प्रतिष्ठापित एक प्रतिमा प्राप्त हुई है जिस पर वि.सं. 1486 ज्येष्ठ सुदि 6 रविवार का लेख उत्कीर्ण है।

साधुरत्नसूरि के पट्टधर साधुसुन्दरसूरि

इनके द्वारा प्रतिष्ठापित प्रतिमायें मिली हैं जो वि.सं. 1507 से वि.सं. 1533 तक की हैं। इनका विवरण इस प्रकार है :-

वि.सं. 1507	वैशाख वदि 11 बुधवार	जै. धा. प्र. ले. सं., भाग 1,	लेखांक	1004
वि.सं. 1515	फाल्गुन सुदि 4	श्री. प्र. ले. सं.,	लेखांक	262
वि.सं. 1515	फाल्गुन सूरि 8 शनिवार	अ. प्र. जै. ले. सं.,	लेखांक	171
वि.सं. 1515	"	जै. धा. प्र. ले.,	लेखांक	150

वि. सं. 1515	"	जै. सं. प्र., वर्ष 5 अंक 4	4
		"धातु प्रतिमाना लेखो" संपा. मुनि	
		कांतिसागर,	लेखांक 25
वि. सं. 1517	ज्येष्ठ वदि 5 शुक्रवार	जै. धा. प्र. ले. सं., भाग 1,	लेखांक 885
वि. सं. 1517	फाल्गुन सुदि 3 शुक्रवार	रा. प्र. ले. सं.,	लेखांक 210
वि. सं. 1517	"	जै. धा. प्र. ले. सं., भाग 2,	लेखांक 983
वि. सं. 1517	"	वही, भाग 2,	लेखांक 1130
वि. सं. 1517	"	वही, भाग 1,	लेखांक 345
वि. सं. 1517	फाल्गुन सुदि शनिवार	वही, भाग 2,	लेखांक 1026
वि. सं. 1518	वैशाख सुदि 3 शनिवार	श. वै.,	लेखांक 159
		एवं	359
वि. सं. 1518	"	जै. धा. प्र. ले.,	लेखांक 167
वि. सं. 1518	"	जै. धा. प्र. ले. सं., भाग 1,	लेखांक 874
वि. सं. 1519	वैशाख वदि 11 शुक्रवार	वही, भाग 1,	लेखांक 883
वि. सं. 1519	"	प्रा. ले. सं.,	लेखांक 337
वि. सं. 1519	माघ सुदि 4 रविवार	वही,	लेखांक 331
वि. सं. 1521	ज्येष्ठ सुदि 5 शुक्रवार	जै. धा. प्र. ले. सं., भाग 2,	लेखांक 618
वि. सं. 1521	फाल्गुन सुदि 5 गुरुवार	अ. प्रा. जै. ले. सं.,	लेखांक 509
वि. सं. 1522	पौष वदि 1 गुरुवार	रा. प्र. ले. सं.,	लेखांक 241
वि. सं. 1523	वैशाख सुदि 4 बुधवार	प्र. ले. सं.,	लेखांक 627
		एवं	
		जै. ले. सं., भाग 2,	लेखांक 1156
वि. सं. 1523	वैशाख सुदि 9 सोमवार	जै. सं. प्र., वर्ष 5 अंक 4	
		"धातु प्रतिमाना लेखो"	
		संपा. मुनिकांतिसागर,	लेखांक 32
वि. सं. 1523	"	जै. धा. प्र. ले.,	लेखांक 187
वि. सं. 1523	माघ सुदि 1 बुधवार	वही,	लेखांक 188
वि. सं. 1525	वैशाख वदि 1 गुरुवार	प्र. ले. सं.,	लेखांक 656
वि. सं. 1525	"	जै. धा. प्र. ले. सं., भाग 2,	लेखांक 226
वि. सं. 1525	पौष वदि 5 सोमवार	जै. धा. प्र. ले. सं. भाग 1,	लेखांक 27
वि. सं. 1526	आषाढ सुदि 8 शुक्रवार	वही, भाग 1,	लेखांक 45
वि. सं. 1527	वैशाख वदि 6 शुक्रवार	प्र. ले. सं.,	लेखांक 683
		एवं	
		जै. ले. सं., भाग 1,	लेखांक 768
वि. सं. 1527	"	प्रा. ले. सं.,	लेखांक 410

वि.सं. 1527	वैशाख वदि 10	जै. धा. प्र. ले. सं., भाग 1,	लेखांक	807
वि.सं. 1527	वैशाख वदि 11 बुधवार	प्रा. ले. सं.,	लेखांक	412
वि.सं. 1529	माघ सुदि 6 सोमवार	प्र. ले. सं.,	लेखांक	717
		एवं		
		जै. ले. सं., भाग 2,	लेखांक	1281
वि.सं. 1530	पौष वदि 2 बुधवार	प्रा. ले. सं.,	लेखांक	427
वि.सं. 1531	कार्तिक सुदि 12 शनिवार	जै. धा. प्र. ले. सं., भाग 1,	लेखांक	47
वि.सं. 1532	चैत्र वदि 2 गुरुवार	प्र. ले. सं.,	लेखांक	740
		एवं		
		जै. ले. सं., भाग 1,	लेखांक	561
वि.सं. 1532	कार्तिक वदि 1 सोमवार	जै. धा. प्र. ले. सं., भाग 2,	लेखांक	1039
वि.सं. 1533	वैशाख सुदि 4 बुधवार	प्रा. ले. सं.,	लेखांक	452

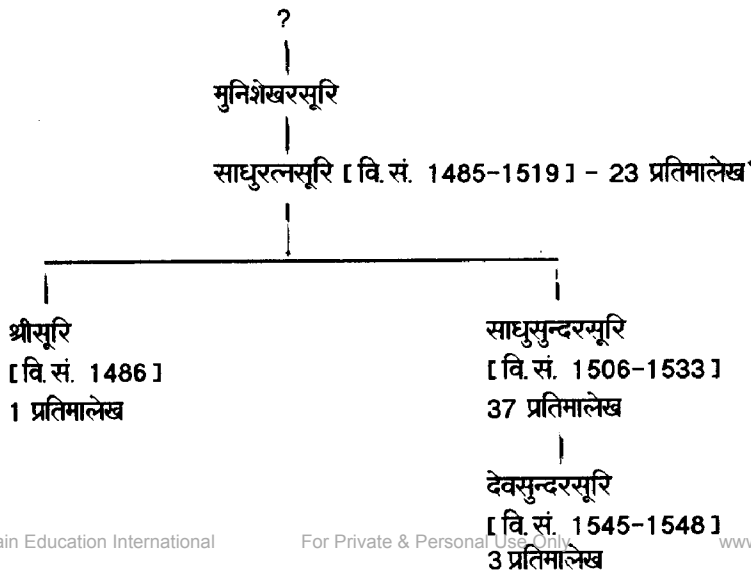
साधुसुन्दरसूरि के पट्टधर देवसुन्दरसूरि

इनके द्वारा प्रतिष्ठापित 3 प्रतिमायें मिली हैं जिनका विवरण इस प्रकार है :-

वि.सं. 1545	फाल्गुन वदि 2 मंगलवार	श्री प्रतिमा ले. सं.,	लेखांक	217
वि.सं. 1547	माघ सुदि-10 गुरुवार	प्रा. ले. सं.,	लेखांक	495
वि.सं. 1548	कार्तिक सुदि 12 शुक्रवार	रा. प्र. ले. सं.,	लेखांक	310

उक्त प्रतिमालेखीय साक्ष्यों के आधार पर पूर्णमागच्छीय गुरु-परम्परा की एक संक्षिप्त तालिका इस प्रकार बनायी जा सकती है :-

तालिका 3



अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर पूर्णिमागच्छ के कुछ अन्य मुनिजनों के भी पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित होते हैं, परन्तु उनके आधार पर इस गच्छ की गुरु-परम्परा की किसी तालिका को समायोजित कर पाना कठिन है। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :-

1. जयप्रभसूरि [वि. सं. 1465]
2. जयप्रभसूरि के पट्टधर जयभद्रसूरि [वि. सं. 1489-1519]
3. विद्याशेखरसूरि के पट्टधर गुणसुन्दरसूरि [वि. सं. 1504-1524]
4. जिनभद्रसूरि [वि. सं. 1473-1481]
5. जिनभद्रसूरि के पट्टधर धर्मशेखरसूरि [वि. सं. 1503-1520]
6. धर्मशेखरसूरि के पट्टधर विशालराजसूरि [वि. सं. 1525-1530]
7. वीरप्रभसूरि [वि. सं. 1464-1506]
8. वीरप्रभसूरि के पट्टधर कमलप्रभसूरि [वि. सं. 1510-1533]

अभिलेखीय साक्ष्यों से पूर्णिमागच्छ के अन्य बहुत से मुनिजनों के नाम भी ज्ञात होते हैं, परन्तु वहां उनकी गुरु-परम्परा का नामोल्लेख न होने से उनके परस्पर सम्बन्धों का पता नहीं चल पाता। साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर संकलित गुरु-शिष्य परम्परा [तालिका संख्या 1] के साथ भी इन मुनिजनों का पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता, फिर भी इनसे इतना तो स्पष्ट रूप से सुनिश्चित हो जाता है कि इस गच्छ के मुनिजनों का श्वेताम्बर जैन समाज के एक बड़े वर्ग पर लगभग 400 वर्षों के लम्बे समय तक व्यापक प्रभाव रहा।

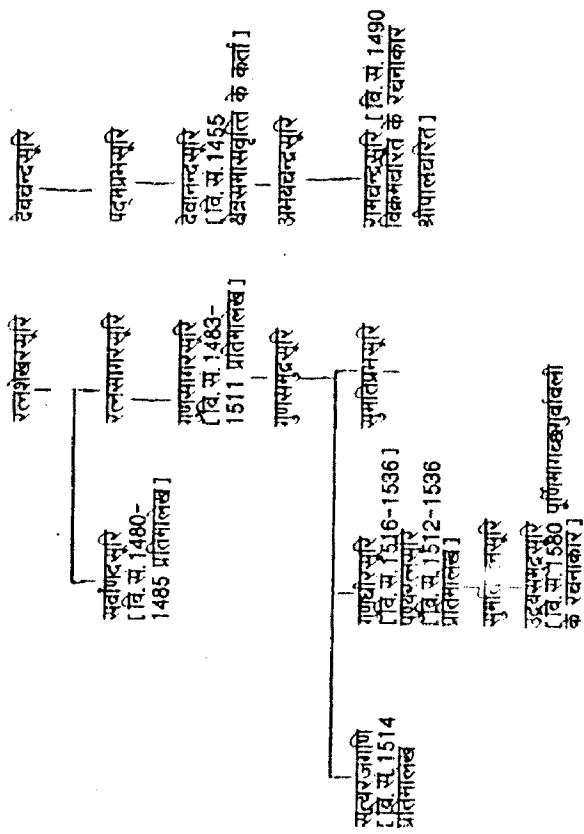
अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर निर्मित गुरु-शिष्य परम्परा की तालिका संख्या 3 का साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर संकलित गुरु-शिष्य परम्परा की तालिका संख्या 1 के साथ परस्पर समायोजन संभव नहीं हो सका, किन्तु तालिका संख्या 1 और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर संकलित तालिका संख्या 2 के परस्पर समायोजन से पूर्णिमागच्छीय मुनिजनों की जो विस्तृत तालिका बनती है, वह इस प्रकार है :-

द्रष्टव्य - तालिका संख्या - 4

तालिका 4.

साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर निर्मित पूर्णमागच्छीय गुरु-शिष्य परम्परा





संदर्भ

1. तस्मन्नुग्रविशालशीलकन्धितस्वाध्यायध्यानोद्यतो-
त्सर्पच्छारुतपः सुसंयमयुतश्रेय सुधा... लयः ।
सच्छीलांगदलः कलंकविकल्पो ज्ञानादिगंधोद्भुरः
सेत्वो देवनृपद्विरेफमुततेः श्रीचन्द्रगच्छोऽबुजः ॥ 4 ॥
तस्मिन्नीर्थविभूषकेऽभवदथ श्रीसर्वदेवप्रभुः
सूरिः शीलनिधिधिया जितमरुत्सूरिः सतामगणीः ।
तस्याऽप्यदभुतघारुचंचदमलोत्सर्पदगुणैकास्पदं
स्याच्छिष्यो जयग्निहमूरिरमलस्तस्यापि भूभूषणम् ॥ 5 ॥
हेलानिर्जितवादिवृंदकनिकान्नाशेषलुप्तवता-
चारोत्सर्पितसत्पथैककदिनः सिंहः कुमारगद्विपे ।
चंचच्चंचलचित्तवृत्तिकरणग्रामाश्वघातो वभू
श्रीचंद्रप्रभमूरिचारुचरितशचारित्राणामगणीः ॥ 6 ॥
ज्ञानादित्रयरत्नरोहणगिरिः सच्छीलपाथोनिधि-
द्वीरो धीधनसाधुसंहतिपतिः श्रीधर्मधूर्धारकः ।
स्यात् सिद्धांतहिरण्यधर्षणकृते पट्टः पट्टुः शुद्धधीः
शिष्यो गच्छपतिः प्रतापतरणिः श्रीधर्मघोषप्रभुः ॥ 7 ॥
तच्छिष्यविमलगणिना कृतिना भ्रात्राऽनुजेन शास्त्रस्य ।
अस्योच्चैर्वृत्तिरियं विहिता साहाय्यतः सुधिया ॥ 8 ॥

दर्शनशुद्धिवृत्ति की प्रशस्ति

- Muni Punyavijaya - Catalogue of Palm-Leaf Mss in the Shanti Natha Jain Bhandar, Cambay [G.O.S. No. 135 and 149] Baroda 1961-66 A.D., pp. 269-270.
- C.D. Dalal - A Descriptive Catalogue of Mss In the Jaina Bhandars at Pattan [G.O.S. No. LXXVI] Baroda- 1937 A.D., pp. 5-7.
- Muni Punyavijaya - New Catalogue of Sanskrit and Prakrit Mss - Jesalmer Collection, [L.D. Series No. 36] Ahmedabad 1972 A.D. p. 79.
- Muni Punyavijaya - Catalogue of Palm-Leaf Mss In the Shanti Natha Jain Bhandar, Cambay, pp. 349-356.

5. मोहनलाल दलीचन्द देसाई - जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, मुम्बई 1933 ई., पृष्ठ 340.
6. वही, पृष्ठ 410.
7. वही, पृष्ठ 432.
8. वही, पृष्ठ 444.
9. Muni Punyavijaya - New Catalogue of Sanskrit and Prakrit Mss - Jesalmer Collection, p. 236.
देसाई, पूर्वोक्त, पृष्ठ 379
गुलाबचंद्र चौधरी - जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग 6
[पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 20] वाराणसी 1973 ई., पृष्ठ 515
10. मुनिजिनविजय - संपा. विविधगच्छीयपट्टावलीसंग्रह
[सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 53] बम्बई 1961 ई., पृष्ठ 232-234.
मुनि कल्याणविजय - संपा. पट्टावलीपरागसंग्रह
श्री कल्याणविजय शास्त्र संग्रह समिति, जालौर, 1966 ई. पृष्ठ 219.

संकेत सूची

- जै.ले.सं. - जैन लेख संग्रह, भाग 1-3, संपा. पूरन चन्द नाहर, कलकत्ता 1918, 1927, 1929 ई.
- प्रा.जै.ले.सं. - प्राचीन जैन लेख संग्रह, भाग 2, संपा. मुनि जिनविजय, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, 1921 ई.
- प्रा.ले.सं. - प्राचीन लेख संग्रह, संपा. विजयधर्मसूरि, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला भावनगर, 1929 ई.
- जै.धा.प्र.ले.सं. - जैन धातु प्रतिभा लेख संग्रह भाग 1-2, संपा. मुनि बुद्धिसागर, श्री अध्यात्मज्ञान प्रसारक मंडल, पादरा, 1924 ई.
- अ.प्रा.जै.ले.सं. - अर्बुदप्राचीन जैनलेख संदोह आबू - भाग 2, संपा. मुनि जयन्तविजय, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, उज्जैन, वि.सं. 1994
- अ.प्र.जै.ले.सं. - अर्बुदाचल प्रदक्षिणा जैन लेख संदोह, आबू - भाग 5, संपा. मुनि जयन्तविजय, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, भावनगर, वि.सं. 2005
- जै.धा.प्र.ले. - जैन धातु प्रतिभा लेख, संपा. मुनि कातिसागर, प्र. श्री जिनदत्तसूरि ज्ञान भंडार, सूरत, 1950 ई.
- प्र.ले.सं. - प्रतिष्ठा लेख संग्रह, संपा. महोपाध्याय विनयसागर, सुमतिसदन, कोटा-राजस्थान 1953 ई.

- जै.ले.सं. - बीकानेर जैन लेख संग्रह, संपा. अगरचन्द नाहटा एवं भंवरलाल नाहटा, नाहटा ब्रदर्स, 4 जगमोहन मलिक लेन, कलकत्ता 1955 ई.
- प्र.ले.सं. - श्री प्रतिमा लेख संग्रह, संपा. दौलतसिंह लोढ़ा, प्रका. - यतीन्द्र साहित्य सदन, धामणिया, मेवाड़ 1951 ई.
- स.प्र. - जैन सत्य प्रकाश
- गि.द. - शत्रुंजयगिग्गिजदर्शन संपा. मुनि कंचनसागर, प्रका. - आगमोद्धारक ग्रन्थमाला, कपडवज, 1982 ई.
- वै. - शत्रुंजयवैभव संपा. मुनि कांतिसागर, कुशलसंस्थान, पुष्प 4, जयपुर 1990 ई.
- प्र.ले.सं. - राधनपुरप्रतिमालेखसंग्रह, संपा. मुनि विशालविजय, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, भावनगर- 1960 ई.

कवि छल्लह कृत अरडकमल्ल का चार भाषाओं में वर्णन

- भँवरलाल नाहटा

किसी भी भाषा के विकास-क्रम की अभिज्ञता के लिये प्राचीन साहित्य का अनुशीलन अनिवार्य है। प्राचीन ग्रन्थागारों में गोते लगाने पर मूल्यवान् मौक्तिक हस्तगत होते हैं पर इस कार्य में मौलिक शोधकर्ता आपेक्षित हैं। यद्यपि पहले की अपेक्षा अब शोध कार्य में प्रगति हुई है और फलस्वरूप बहुत-सी अप्रकाशित सामग्री प्रकाश में आई है फिर भी इतना विपुल साहित्य छिपा पड़ा है जिसका अनुसंधान आज भी नहीं हो पाया है। यों तो "बारह कोशे बोली फ्लैट" -- यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है परन्तु मुख्य भाषाओं में लिखा हुआ जो साहित्य उपलब्ध है, उसी का अध्ययन उसके विकास-वृत्त की आधारशिला है। प्रकाशन-युग में ग्रियर्सन आदि विदेशी भाषाशास्त्रियों ने एक ही भाव वाले विविध भाषाओं के उद्धरण देकर अपनी अध्ययन शैली को जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर अध्येताओं के लिये मार्ग प्रशस्त किया है। वस्तुतः देखा जाय तो यह परम्परा भारत में पूर्व काल से चली आ रही थी। प्राचीन ग्रन्थों में विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के उदाहरण बहुत पाये जाते हैं।

भाषा के माध्यम से भावों की प्रान्तीय शैली से स्पष्टाभिव्यक्ति जितनी गद्य में हो सकती है उतनी पद्य में नहीं। क्रिया-पदादि की अल्पता से पद्य एक दूसरी भाषा के अति निकट आ जाते हैं पर गद्य तो जन-जीवन में अहर्निश व्यवहार होने से अधिक वास्तविकता पूर्ण है। विविध भाषाओं का एक साथ आनन्द लेने के लिए पुरातनकालीन कवियों ने कतिपय स्तोत्र-छंद आदि युक्ति किये हैं। श्री अमरचन्द जी नाहटा ने अष्ट भाषाओं के सवैये, चौबोली सवैये आदि राजस्थान भारती में प्रकाशित किये थे। गद्य कृतियां तो प्राचीन राजस्थान में प्रचुर परिमाण में पाई जाती हैं, जिनमें वर्णकसमुच्चय, वाग्विलास, सभाशृंगार मुत्कालानुप्रास, अभाणक रत्नाकर आदि एवं परवर्ती दलपतविलास और राजस्थानी में सैकड़ों बातें, नीबांवलरोदुपहरो आदि प्रचुर साहित्य है।

लघु कृतियों में पद्यानुकारी शैली एक विशेष प्रकार की थी। हमारे संग्रह की तपागच्छ गुवाक्ली भारतीय विद्या में प्रकाशित है। मैंने राजस्थानी भाग 2 में दो पद्यानुकारी कृतियाँ प्रकाशित की थी, जिनमें साले-बहनोई की गोष्ठी में अपनी जाति, गोत्र, गुरु, कुल देवी आदि के वर्णन के साथ-साथ राजाओं का भी वर्णन प्रस्तुत है। ये कृतियाँ प्राचीन राजस्थानी से संबन्धित हैं पर कुछ ऐसी कृतियाँ भी मिलती हैं जिन में भिन्न-भिन्न भाषाओं के उदाहरण दिये जाते थे। कैकानेर ज्ञान भण्डार में जिनाप्रभसूरि परम्परा की एक संग्रह प्रति में ऐसी गद्य-कृति है जिसमें त्रुंजयतीर्थ पर यात्रार्थ उपस्थित गुर्जरी, ग्वालेरी, मारवाड़ी और मालवी स्त्रियों द्वारा

अपनी-अपनी भाषा में प्रस्तुत किये गये वर्णन हैं। इसी शैली से सम्बद्ध एक कृति यहां प्रस्तुत की जाती है, जिसमें अरडकमल्ल नामक एक जैन श्रेष्ठिपुत्र के गुण-वर्णन के प्रसंग में (गुजराती-मराठी), पूर्वी, मुलतानी व पहाड़ी भाषा में तददेशीय स्त्रियों के संवाद प्रस्तुत हैं। इस कृति सं. 1570 में लिखे हुए एक गुटके में मिली है, जो कांगड़ानगर-कोट के आस-पास के एक प्रांत में ही लिखा हुआ है।

इस कृति का नायक अरडकमल्ल सहजपाल का पौत्र और संघपति तेजपाल का पुत्र है। इसका वंश अत्यन्त प्रतिष्ठित और सुलतान सनाख्त (राजमान्य) था, उसी की महिमा का वर्णन है। यह अरडकमल्ल चौदह विद्या-निधान, दानेश्वर, षड्भाषाविद् और भोगपुरन्दर रचना में इसके दिल्ली निवासी होने का स्पष्ट उल्लेख है। अरडकमल्ल का विशेष परिचय के अनिश्चित प्राप्त नहीं है। यह गुटका सं. 1570 का लिखा हुआ होने से यह कृति पन्द्रह सोलहवीं शती की निर्मित मालूम होती है। इसी काल में अरडकमल्ल नाम के एक बुद्धि व्यक्ति हुए हैं, जो श्रीमाल वंशीय जैन थे, इनकी अम्यर्थना से श्री जिनप्रभसूरि शास्त्र "चरित्रवर्द्धन गणि" नामक विशिष्ट विद्वान ने 'रघुवंश' काव्यवृत्ति की रचना की है। ये तेजपाल के पौत्र और सल्लिग के पुत्र थे। नाम और समय साम्य के बावजूद भी बाप-दादों के नाम थोड़ा अन्तर दोनों अरडकमल्ल को अभिन्न मानने के लोभ का संवरण करा देता है।

इस कृति के बाद यहाँ सं. तेजपाल विषयक छंद इसी गुटके से उद्धृत किया जाता है, जो कवि पल्ल की रचना है। इस 7 (2+5) पद्यों वाली कृति में सं. तेजपाल को सं. सहजपाल का पुत्र लिखा गया है। अरडकमल्ल छंद के रचयिता कवि छल्ल हैं। ऐसे नाम तत्कालीन कवि में हुआ करते थे। इसी गुटके में सल्ल, नल्ल, विल्ल, पल्ल आदि की कृतियां विद्यमान हैं। संभवतः ये कवि भाट या भोजक जाति के होंगे।

इस कृति के प्रारम्भ में पुव्वणी, उत्तरणी, पचाघणी और दक्षिणी स्त्रियों का वर्णन है। उनकी भाषा के सन्दर्भ में पूर्वी बोली में भोजपुरी-अवधी, उत्तरी में पहाड़ी बोली, जिसके वर्णन में नागकोट, धांगोट और मालोट का नामोल्लेख मिलता है। छन्द में उत्तरणी और उत्तराघणी नाम का प्रयोग किया गया है। मुलतानी के लिये पचाघणि शब्द प्रयोग किया गया है, जो पश्चिमिनी का पर्याय है, पर अब इस का प्रयोग लुप्त हो गया मालूम होता है। दक्षिणी में गुजराती स्त्री के संवाद है, पहले वर्णन में प्रारम्भ की 2-3 पंक्तियाँ मराठी भाषा में और बाद की प्राचीन राजस्थानी या गुजराती में हैं। इस कृति में व्यवहृत भाषा पांच सौ वर्ष पुरानी है, जो भाषा-विकास के दृष्टिकोण से अपना विशेष महत्त्व रखती है। आशा है, विद्वान् भाषा-शास्त्री लोग इस विषय में विशेष प्रकाश डालेंगे।

इस गुटके में कवि छल्ल कृत एक गूढार्थ छंद लिखा मिला है, जिसे यहाँ उद्धृत किया जा रहा है :-

उत्तम पुरिष प्रगट प्रियवीमहि,
सधण सहायउ सदा मरंगु ।

निति उठि नीर पिवइ सो घर घर,
 अहि भोजन न सुहाइ अंग ।
 हयैईमीमधंर जिवई जतन जासे नित,
 चलण विहूणउ भमइ विदेस ।
 कवि छल्ल प अर्थ देहु तुम्ह पंडित,
 तिसु भुगवइ भूपति सिंघनरेसु ॥ १ ॥
 पुव्विणि, उत्तरणी पचाधणि,
 दक्षण नारि सु खरी विचक्षण ।
 धारई इक दिमि ईस धियावहि,
 अरडकमल्ल सेज सुषिरवइ ॥
 दक्षण नारि कहइ हसि गोरी,
 प्रेम पियाप्पी कामि कि होरी ॥
 अमी वयणि मुखि अमृत चावर,
 अरडकमल्ल सेज सुषिरवइ ॥

अनइ सांभलिज्यउ बाई ए काइ एक माहरा मुख ना वचन । ताहरइ दिल मंडलि नइ देसि कुंवर एक । रूपवंत मांटी डोलां चा निरिखाला । ते कहउ दुतिया नउ चंद्रमा । सभा नउ मंडल । दस च्यारि चउद विद्यां नउ भोज । जाण प्रवीण । नवल नागरीक । षट भाषा नउ दीकरउ तेहनउ काजिइ । काइ एक सिंगार कीनई । प्रथमि ही गंगानइ उदकि मज्जन सिंगार कीजइ । बीजइ अगर चन्दन कस्तूरी नउ लेप सरीर मांडिजइ नवादि नउ तिलक ललाटि ठविंजइ राहु ना पान चूनउ कस्तूरी नी खइर बडी केवड़ा नउ काथ । तेहना मुखवास तंबोल कीधा । अवर निम्मल मुक्ताफल ना हार । दक्षण ना चीर आंडबर करी नइ सखीनइ संघातिइ । रहसिइ पगु धरिजई ॥ १ ॥

छंद --

पगु धरइ सुसेज कुंवर वर कामिणि
 नव सत साजि सिंगार तंन
 कवलादल नयण कीर सर गंधइ
 कर कंकण उरि हार वनं
 श्रीफल वि वि सिहण लीण रसि हृपय
 हंसगमिणि मुखि अमी चवइ
 अरडकमल्ल सुंदर सविचक्षण
 सरस सधण गुजरी रमइ ॥ १ ॥
 पूरविणी कहिसी सुणि साधण, हे गुजरि,
 गरबु न कारिसी इमसिम सुंदरि ।
 नयण बाण सर पंचम लावुं,
 अरडकमल सेज सुषि रावुं ॥ १ ॥

आता सुन स सखीए पूरव देमकर महिले बोलती आहि। कस बोलती आहि। तुम्हारइ पक्षिमा कर देखि दीली कर नगर कुंवर सुठ नीक चीन्हा। कस सुठ नीक चीन्हा, जस गंगा कर नीए। साँहस कर धीर। बुधि करि निधान। सहस गोपी कर कान्हा। रजनीकर भान। कुसम महेस्वर। मानिनि मन रंजन विरहणी प्राणवल्लभा आतां सुणि सुखिये। अवर उत्तिम सुठि नीक लख्यण कस सुठ नीक लक्षण जकरी पउरिह दग्गिण हू याणवइ पाखंड। नट नाटक। पेरणी पात्र। गुण गाहा उर बूझ वणहार सकर करा प्रवीण सहजपार संघई कर नाती तेजपार संघई करपूत। तकरे कारण सिंगार कीन्हा।। कसा सिंगार कीनां।

छंद -

सुठि करइ सिंगार नयना भरि कजरा,
कूकू चंदनि खौर करि।
सिरि दक्षण घीर, करिहि कसि कंचू,
करी पटोरा वान वनं।।
मुख सुरंग तंबोरा, मग भरि सिंदुरा,
धिम्म पियासि लाग मनी।।
अरडकमल्ल सुंदर रसि रावइ।
रंगि रावइ हसि पूरविणी।। 2।।

पाचाधणि धण जुव्वणि वाली।
नयणि सलूणी काम कराली।।
बहुविधि फुल्लह सेज विह्वावां।
अरडकमल्ल सेज सुषिरावां।।

विणी सुणंदी हई। असाणइ मुलताना हंदइ गांवा हंवइ हिक माणूह सरोवरि आहा तियइ पंज सत कुडीए धांवणइ जाँदी हई जा दिसइ ती हिकक मोटियार। खांडे हंदी मुठि। घोडे हंदी पुठि पान चावइंदा आइ निककथा। सानि के नेहड़ा गभरु जेहडा राउ भरहू। जेहरा राउ दुलची जेहरा राउ कमलदी मई जाणितं तांबी कुडी आषंदी हइ। सूणंदी भइणी एइसे न होइ। चत्वे दी सुं जिणहदा विरद नीसाण भराइर वहु चक्कि फल्ला तिन्हादई वंसि सहजपाल संघई दा पोत्रा तेजपाल संघइ पुत्त। दीवाण हंदा दीपकु कर्ण जेहा दातार। भोज जेहा कडवार। वाचाद। अपिचाल। सहस गोपीदा वल्लभ। जां देखइ लख समप्पइ जां बोलई ता दालिद कप्पइ। जां हसियइ मई मनि मनि भाया। ललौ हीं तां वरु पाया।।

वरु पाया सखि ये लली पुजइं
दीवड चित्ता दातार कले।
सुलितान सनाखत तिणि कुलि उदयउ
दालिद भंजण करण छले।।

धन माइ जणइ दी सब्ब विधि घंगा ।
 विरह दवण मुखि अमी चवइ ।
 अरडकमल्ल सुंदर सुखि रावइं
 पाचाधिणि सुखि सेज रवइं ॥ 3 ॥
 उत्तर नारि तरुणि सविघक्षण ।
 कमल वदनि विगसंदी साधण ।
 चबे कले पिया मनि भावा ।
 अरडकमल्ल सेज सुखि रावां ॥ 1 ॥

विणी णैदीहइ मसाडइ धीगोटइ मालोटइ नगर कोटइ । लोकांदा खेलु देखइ । बोलइ चेली साकिने हड़ी अपदरा लुंगोदा हार कस्तुरी दा महाकार पानां फोफलां सिंगार । चूडेदा झंकार राहोति धो पिहइं । जां देखइ ता कुवर एक । कोटी-कोटी जांदो दिठो । बोलई विडिए इन्हादे कारणरं । देवी जालपादी भगति किती तां मन छिंदे दिवहे सो वरु पाया ।

मन छिंदे दिवहे सो वरु पाया पुजी जालपा इहकरे ।
 धण चबे कली भमर भुंजक पिय मुत्ती मांग सिंदूर भरे ॥
 गुण गाहा गंध छंदक्यल्ल पणिपुहवि पुदहर छल्ल चवइ ।
 अरडकमल्ल सुंदर (सेज) सुषि रावइं
 उत्तरधिणी सुखि सेज रवइं ॥ 4 ॥

गुजजरि गुणह गरिह नेह नव जुव्वणवाली । पुव्विणि पेम सणेह रुपि करि काम कराली ॥
 पाचाधिणि हसि पिगसि सेजलटकइदी आवह । करि सिंगार पुव्वणी रहसिकरि प्रीय मनि भावइ ।
 गुणि सील सहजि च्यारइ चतुरि सुकवि छल्ल सचु चवइ । संघाधिपति तेजपाल तनु सो
 अरडकमल सिजजारमई ॥ 5 ॥ इति ॥

संघपति तेजपाल छंद

कामिणि सा काणयंगी कणह्णीग कणय कुसुम करि गहियं
 अराहइ अरिहंतो वर मंगइ तेजपालस्य ॥ 1 ॥
 सुंदरी मराल गमिणी वयणी ससि पुन्न मज्झि सारंगी
 अय तिख वंक चवला लोयण मृग डिंभ वंक सुक रंका ॥ 2 ॥
 कुरंक डिंभ लोइणी, हुरई अणंगि रंत्तियाँ
 रवतर सेय कृश्रन नयइ भ्रवण पत्तियाँ ॥
 कडरव तिख पथवाणं भाव भेद जाणये ।
 सुतेज नो मंयक रुवि सेज तीय माणये ॥ 1 ॥
 जु कोमला मृणाल बाल पाण पंकजासरे ।
 गंभीर नाभि मझि खीण लंक मुठि केहरे ॥
 सरीर सोलही सुवन्न अंगि वास लावए

सु तेज नो मंयक रुपि सेज तीय माण ए ॥ 2 ॥

सयंब नायका विधित्त रंभ रुवि दिट्ठियं
 पयोहरा उत्तगं पीन हेम कुंभ संठियां
 लघंति हंस की गया गयंद मत्त गामिनी
 जुनेय नो मंयक रुपि सेज तीय मानिनी ॥ 3 ॥

सरो मंयक रुव तेय तिमिर मान खंडाणो ।
 अमी झरंति सयल लो ललाटि रेह मंडणो ॥
 कलाव केश नय तुरंग रहसि विठाणये ।
 सु तेज नो मंयक रुव रहइ तीय मानिनी (माणए) ॥ 4 ॥

ससिवदनी, सगुणंग अगि घंदन घरघंती ।
 नव सत्तह संठवइ चित्ति पदमिनी विहसंती ॥
 पट्टंबर पंगुरण हार मुत्ताहल सोहइ ।
 कनक कलस कुच कठिन पिषि सुरनर मन मोहइ ॥
 स्यामा सुरंग कवि पल्ह मणि, पिक दयणी पिउ पिउ घवइ ।
 संघाधिपति सहजपाल तनु सुतेजपाल सिजा रमइ ॥ 5 ॥ इतिहंदि ॥

द्वादशार नयचक्र का दार्शनिक अध्ययन

[शोध प्रबन्ध का सार संक्षेप]

- जितेन्द्र बी. शाह

स्वतंत्र दार्शनिक चिंतन की दृष्टि से भारतीय-दर्शन परम्परा में श्रमण परम्परा का महत्त्वपूर्ण योगदान है। श्रमण परम्परा का यह वैशिष्ट्य रहा है कि उसने दर्शन को आस्था से मुक्त करके तार्किक आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। वर्तमान में श्रमण परम्परा के जो दर्शन उपलब्ध हैं, उनमें प्रमुख रूप से चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि आज आजीवक आदि कुछ श्रमण-परम्परा के दर्शन सुव्यवस्थित रूप में अनुपलब्ध हैं और कुछ सांख्य और योग जैसे दर्शनों को आस्तिक दर्शनों के वर्ग में समाहित करके वैदिक दर्शन परम्परा का ही अंग माने जाने लगा है।

भारतीय दार्शनिक चिंतन की जो विविध धाराएँ अस्तित्व में आईं उनके बीच समन्वय स्थापित करने का काम जैनदर्शन ने अपने नयवाद के माध्यम से प्रारम्भ किया था। बौद्ध दर्शन से भिन्न जैन दर्शन का यह वैशिष्ट्य रहा कि जहाँ बौद्ध दार्शनिकों ने अपने से भिन्न दर्शन परम्परा में दोषों की उद्भावना दिखाकर मात्र उन्हें नकारने का काम किया; वहाँ जैन दार्शनिकों ने यद्यपि विभिन्न दर्शन परम्पराओं की समीक्षा की किन्तु उन्हें नकारने के स्थान पर परस्पर समन्वित और संयोजित करने का प्रयत्न किया। जैन दार्शनिकों का यह उद्घोष था कि जो भी दर्शन अपने को ही एक मात्र सत्य मानता है एवं दूसरे दर्शनों को असत्य कहकर नकारने का प्रयत्न करता है, वही मिथ्यादर्शन है। उनके अनुसार विभिन्न दर्शन जब विभिन्न अपेक्षाओं के आधार पर एक दूसरे से समन्वित हो जाते हैं, तो वे सत्यता को प्राप्त कर लेते हैं। प्रत्येक दर्शन अपने से विरोधी मत का निरपेक्ष रूप से खंडन करने के कारण जहाँ दुर्नय (मिथ्यादर्शन) होता है वहीं वह दर्शन अनेकान्तवाद में स्थान पाकर सुनय (सम्यक्दर्शन) बन जाता है। आ.सिद्धसेन ने पृथक्-पृथक् दर्शनों को रत्नों की उपमा दी और यह बताया कि वे दर्शन पृथक्-पृथक् रूप में कितने ही मूल्यवान् क्यों न हों, हार की शोभा को प्राप्त नहीं कर पाते। उन्हें हार की शोभा को प्राप्त करने के लिए एक सूत्र में आबद्ध होना होगा। जैन विचारकों का अनेकान्तवाद विभिन्न दार्शनिक मतवादों को सूत्रबद्ध करने का एक प्रयत्न है। आचार्य मल्लनवादी का इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण अवदान द्वादशार नयचक्र के रूप में हमारे सामने है। अनेकान्तवाद के कारण जैन दर्शन में जो विशेषता आयी, वह यह कि जैन दर्शन के अध्ययन के लिए और उसके सम्यक् प्रस्तुतीकरण के लिए अन्य दार्शनिक परम्पराओं का अध्ययन आवश्यक माना गया।

यही कारण था कि भारतीय दर्शन परम्परा के इतिहास में दर्शन संग्राहक ग्रन्थों की रचना सर्वप्रथम जैन परम्परा में ही हुई। जैन दार्शनिकों में आ. सिद्धसेन दिवाकर (4शती) प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सन्मति-प्रकरण में विभिन्न दार्शनिक मतों को समीक्षित और समन्वित करने का प्रयास किया। यद्यपि आ. सिद्धसेन के समकालीन बौद्ध दार्शनिकों ने भी विभिन्न दार्शनिक मतवादों की समीक्षा की थी किन्तु उन्होंने मात्र उनमें दोषों की उद्भावना कर उन्हें निरस्त करने का ही प्रयास किया, जब कि आचार्य सिद्धसेन ने स्पष्ट रूप से यह उद्घोषणा की कि जब तक प्रत्येक दर्शन (नय) पृथक्-पृथक् होता है तब तक वह अपनी ही सत्यता के मिथ्या अभिनिवेश के कारण ही मिथ्या रहता है, किन्तु जब वह अनेकान्तिक और अनाग्रही दृष्टि को स्वीकार कर एक दूसरे की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करते हुए उनमें सामंजस्य स्थापित करता है, तो वह सम्यक् बन जाता है। इसी क्रम में उन्होंने आगे यह बताया था कि सांख्य दर्शन द्रव्यार्थिक नय को प्रधान मानकर और सौगत दर्शन पर्यायार्थिक नय को प्रधान मानकर अपनी विवेचना प्रस्तुत करता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में उक्त दोनों नयों को अपेक्षा भेद से और विषयभेद के आधार पर प्रधानता दी जाती है। यही कारण है कि इस प्रकार से समन्वय की दृष्टि को लेकर आ. सिद्धसेन दिवाकर ने जिस परम्परा को प्रस्तुत किया था, हमारे आलोच्य ग्रन्थ द्वादशार नयचक्र में मल्लवादी क्षमाश्रमण (5वीं शती) के द्वारा उसी को संपोषित किया गया।

प्रस्तुत ग्रन्थ और ग्रन्थकार के वैशिष्ट्य को स्थापित करते हुए जैन विद्या के मूर्धन्य विद्वान् पं. दलसुखभाई मालवणिया ने लिखा है कि "भगवान महावीर के बाद भारतीय चिन्तन में तात्त्विक दर्शनों की बाढ़ आ गई थी। सामान्यतया यह कह देना कि सभी नयों (दर्शनों), मन्तव्यों, मतवादों का समूह अनेकान्तवाद है, यह एक बात है, किन्तु उन मन्तव्यों को विशेष रूप से विचार पूर्वक अनेकान्तवाद के व्यापक परिप्रेक्ष्य में स्थापित करना यह दूसरी बात है। यह महत्त्वपूर्ण कार्य यदि किसी जैन दार्शनिक ने किया तो उनमें प्रथम नाम आ. मल्लवादी क्षमाश्रमण का है"। ग्रन्थ और ग्रन्थकार की इसी विशेषता को दृष्टि में रखकर हमने इस ग्रन्थ को अपनी गवेषणा का विषय बनाया। आ. मल्लवादी क्षमाश्रमण ने द्वादशार नयचक्र में अपने अनुपम दार्शनिक पांडित्य का परिचय तो दिया ही है किन्तु उनके साथ-साथ उन्होंने भारतीय दार्शनिक इतिहास की एक अपूर्व सामग्री को आगामी पीढ़ी के लिए छोड़ा भी है।

किन्तु भारतीय दर्शन का यह दुर्भाग्य था कि आ. मल्लवादी का यह महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ कालक्रम में नष्ट हो गया, मात्र उसकी आ. सिंहसूरी की एक टीका ही उपलब्ध हो सकी। किन्तु उस टीका में ग्रन्थ के कुछ अंश ही उपलब्ध थे, सम्पूर्ण ग्रन्थ उस टीका ग्रन्थ में भी उपलब्ध नहीं था। अतः उस टीका के आधार पर भी मूल ग्रन्थ को पुनः व्यवस्थित करना एक दुरुह कार्य था। पू. मुनि जम्बूविजय जी ने इस दुरुह कार्य को हाथ में लिया और तिब्बती भाषा में अनुदित प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में प्रस्तुत ग्रन्थ के जो-जो अंश उपलब्ध हो सके उनका अध्ययन करके, इस ग्रन्थ को व्यवस्थित किया। इस ग्रन्थ में अनेक लुप्त :।ग्रंथों के उद्धरण एवं लुप्तवादों

की समीक्षा है। जो दर्शन के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ न केवल जैन दर्शन अपितु भारतीय वाङ्मय का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में नयों के विवेचन और प्रस्तुतीकरण की जो शैली है, वह भी अभूतपूर्व है। इसके पूर्व और पश्चात् के किसी भी जैन दार्शनिक ग्रन्थ में इस शैली का अनुसरण नहीं पाया जाता है। इसका यह वैशिष्ट्य विद्वानों के सामने लाना आवश्यक था। यही सोचकर हमने इस ग्रन्थ को अपने शोध का विषय निर्धारित किया। इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें नयचक्र की अवधारणा के माध्यम से उस युग के सभी दार्शनिक मतों को क्रमपूर्वक प्रस्तुत एवं समीक्षित किया गया है। इसमें नय शब्द एक-एक दर्शन परम्परा का परिचायक है। आचार्य मल्लवादी ने इन नयों का नामकरण एवं वर्गीकरण भी अपने ही ढंग से विधि, नियम आदि के रूप में निम्न बारह विभागों में किया है --

अर का नाम	चर्चित विषय
1. विधि:	अज्ञानवाद
2. विधि-विधि:	कारणवाद
3. विध्युभयम्	ईश्वरवाद
4. विधि नियम:	कर्मवाद
5. विधि नियमौ	द्रव्य-क्रियावाद
6. विधिनियम विधि:	भेदवाद
7. उभयोभयम्	अपोहवाद
8. उभयनियम:	शब्दाद्वैतवाद/जातिवाद
9. नियम:	सामान्य-विशेषवाद
10. नियमविधि:	वक्तव्य-अवक्तव्यवाद
11. नियमोभयम्	क्षणिकवाद
12. नियम नियम:	शून्यवाद/विज्ञानवाद

इसकी विशेषता यह है कि प्रत्येक 'अर' (अध्याय) किसी दार्शनिक मतवाद को प्रस्तुतीकरण करता है, फिर दूसरे अर के आदि में उस दार्शनिक मत की समीक्षा प्रस्तुत की जाती है और उसके विरोधी मतवाद कर उद्भावन का उसका विधान किया जाता है। इस प्रकार क्रम से एक दर्शन की समीक्षा के आधार पर दूसरे दर्शन की उद्भावना करके समस्त भारतीय दर्शनों को एक चक्र के रूप में सुनियोजित एवं प्रदर्शित किया गया है। इस सब में जैन दर्शन की भूमिका को एक तटस्थ द्रष्टा के रूप में रखा गया है। उसमें नित्यवाद का खंडन अनित्यवाद से और अनित्यवाद का खंडन नित्यवाद से करवा कर यह स्पष्ट किया गया है कि उन मान्यताओं में क्या कमियां हैं। किन्तु नयचक्र की यह भी विशेषता है कि वह मात्र एक पक्ष का खंडन ही दूसरे पक्ष से नहीं करवाता है अपितु पूर्व पक्ष में जो गुण हैं उसे स्वीकार भी करता है। विभिन्न जैनतर दर्शनों को ही नय मान कर इस ग्रन्थ की रचना हुई है। इस ग्रन्थ के वैशिष्ट्य के सम्बन्ध में पं. दत्तमुखभाई मालवणिया का कथन है कि ग्रन्थ में जैनतर मन्तव्य जो

लोक में प्रचलित थे उन्हीं को नय मानकर उनका संग्रह विविध नय के रूप में किया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि जैन दर्शन किस प्रकार सर्वनयमय है।

प्रस्तुत अध्ययन में हमने नयचक्र में उपस्थित विभिन्न दार्शनिक मतवादों को दार्शनिक समस्याओं के आधार पर आधुनिक दृष्टि से प्रस्तुत किया है और भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याओं के संदर्भ में ही ग्रन्थ का अध्ययन किया गया है।

शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में जैनदार्शनिक परम्परा के विकास का इतिहास देते हुए उसमें प्रस्तुत ग्रन्थ और ग्रन्थकार का क्या स्थान है इसे स्पष्ट किया गया है। साथ ही साथ इसमें मल्लवादी के जीवन, समय आदि पर भी विचार किया गया है और अध्याय के अंत में ग्रन्थ की विषय वस्तु को प्रस्तुत किया गया है।

इस शोध-प्रबन्ध का दूसरा अध्याय बुद्धिवाद और अनुभववाद की समस्या से सम्बन्धित है। आ. मल्लवादी का यह वैशिष्ट्य है कि उन्होंने प्रथम अर में आनुभविक आधारों पर स्थित दार्शनिक मतों, जिन्हें परम्परागत रूप में अज्ञानवादी कहा जाता है, का प्रस्तुतीकरण किया है और फिर दूसरे अर से तर्क बुद्धि के आधार पर उन अनुभववादी मान्यताओं की समीक्षा प्रस्तुत की है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का तृतीय अध्याय सृष्टि के कारण की समस्या से सम्बन्धित है। इस अध्याय में आ. मल्लवादी के द्वारा प्रस्तुत अपने युग की जगत् वैचित्र्य के कारण संबंधी वादों यथा -- काल, स्वभाव, नियति, भाव (चेतना), यदृच्छा, कर्म आदि का प्रस्तुतीकरण और उसकी समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

चतुर्थ अध्याय मुख्यरूप से न्यायदर्शन की ईश्वर सम्बन्धी अवधारणा के प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ उसकी समीक्षा के रूप में ईश्वर के सृष्टि-कर्तृत्व की समालोचना प्रस्तुत करता है।

शोध-प्रबन्ध का पंचम् अध्याय सत् के स्वरूप की समस्या से सम्बन्धित है। उसमें मुख्य रूप से नित्यवाद, अनित्यवाद और नित्यानित्यवाद की सत् सम्बन्धी अवधारणाओं का प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा की गई है। साथ ही इसमें परमसत्ता के चित्-अचित् तथा एक-अनेक होने के प्रश्न को भी उठाया गया है। ज्ञातव्य है कि मल्लवादी जहां एक ओर सत् सम्बन्धी विभिन्न अवधारणाओं को प्रस्तुत करते हैं वहीं दूसरी ओर उसकी समीक्षा करते हुए उनके दोषों को भी स्पष्ट कर देते हैं।

शोध-प्रबन्ध का षष्ठम् अध्याय द्रव्य, गुण, पर्याय और उसके पारस्परिक सम्बन्ध तथा स्वरूप की समस्या को प्रस्तुत करता है। इस अध्याय का विवेच्य बिन्दु द्रव्य, गुण और पर्याय की पारस्परिक भिन्नता और अभिन्नता को लेकर है।

हमने इस प्रबन्ध के सप्तम् अध्याय में क्रियावाद और अक्रियावाद को तथा अष्टम् अध्याय में सामान्य और विशेष के सम्बन्ध में मल्लवादी के द्वारा प्रस्तुत अवधारणाओं को और उनकी समीक्षा को प्रस्तुत किया है।

नवम् अध्याय मुख्य रूप से आत्मा के अस्तित्व और उसके स्वरूप की समस्या से सम्बन्धित है। इस अध्याय में भारतीय दर्शन की आत्मा सम्बन्धी विभिन्न अवधारणाओं के सिंहावलोकन के साथ-साथ उनकी समीक्षा भी प्रस्तुत की गई है।

दसवें अध्याय में मल्लवादी द्वारा प्रस्तुत शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध और इस सम्बन्ध में उस युग के विभिन्न मतवादों की समीक्षा की गई है।

ग्यारहवां अध्याय शब्द की वाच्यता सामर्थ्य या वक्तव्यता और अवक्तव्यता की चर्चा करता है। सत्ता की निर्वचनीयता और अनिर्वचनीयता सम्बन्धी विभिन्न मत और उनकी समीक्षा ही इस अध्याय का विवेच्य बिन्दु है।

द्वादश अध्याय में जैनों की नय वर्गीकरण की शैली की विवेचना के साथ-साथ यह स्पष्ट किया गया है कि नयचक्र में किन्म प्रकार परम्परागत शैली का परित्याग करके नई शैली की उद्भावना की गई है।

शोध-प्रबन्ध के अन्त में उपसंहार के रूप में ग्रन्थ में प्रस्तुत विभिन्न दार्शनिक समस्याओं के समाधान में नयचक्र के अवदान को स्थापित किया गया है।

इस प्रकार इस शोध प्रबन्ध में हमने भारतीय दर्शन की विभिन्न दार्शनिक अवधारणाओं का मल्लवादी के द्वादशार नयचक्र के परिप्रेक्ष्य में एक मूल्यांकन किया है।

इस शोध-प्रबन्ध में हमने केवल उन्हीं समस्याओं पर विचार किया है, जो मल्लवादी के दृष्टा में अर्थात् पांचवीं शताब्दी में उपलब्ध थीं। यह सम्भव है कि परवर्ती कुछ दार्शनिक समस्याओं को इसमें स्थान न मिला हो, किन्तु इसका कारण शोध विषय की अपनी सीमा है।

इस प्रस्तुतीकरण पूर्व संगोष्ठी के अन्त में यह कहना चाहूँगा कि इस शोध-कार्य के पीछे भारतीय दर्शन के इस अमूल्य ग्रन्थ, जो मुनि जम्बूविजय जी के अथक परिश्रम से पुनः संरक्षित हो सका है, की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हो, यही एक मात्र अपेक्षा रही है, क्योंकि प्रस्तुत अध्ययन तो सम्पूर्ण भारतीय दर्शन के प्रतिनिधि रूप इस महाग्रन्थ में केवल एक चंचुपात ही है। आशा है कि भविष्य में शोध अध्येता और विद्वान इस ग्रन्थ को अपने अध्ययन का विषय बनाकर उसके विभिन्न पक्षों को उद्घाटित करेंगे।



जैन कर्मसिद्धान्त और मनोविज्ञान

(शोधप्रबन्ध संक्षेपिका)

- रत्न लाल जैन

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के अध्ययन का विषय जैन कर्मसिद्धान्त और मनोविज्ञान है। यह प्रबन्ध आठ अध्यायों में विभक्त है। लाघव की दृष्टि से प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की विषय-सामग्री का सारांश प्रस्तुत है :-

प्रथम अध्याय में भारतीय दर्शन में कर्मसिद्धान्त पर प्रकाश डाला गया है। वैदिक, बौद्ध तथा जैन दर्शनों के कर्म सिद्धान्तों की विवेचना की गई है।

भारतवर्ष प्राचीन काल से आध्यात्मिकता की क्रीडास्थली रहा है। भारतीय जन-जीवन में कर्म शब्द बालक, युवक और वृद्ध सभी की जबान पर चढ़ा हुआ है। भारत की इस पुण्य भूमि पर ही वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय, मीमांसक, वैशेषिक, बौद्ध, जैन आदि दर्शनों का आविर्भाव हुआ।

अध्यात्म की व्याख्या कर्म सिद्धान्त के बिना नहीं की जा सकती। इसलिए यह एक महान्त सिद्धान्त है। जैन दर्शन में 'कर्म' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उसी अर्थ में या उससे मिलते-जुलते अर्थ में अन्य दर्शनों में भी इसके लिए अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है, जैसे-- माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, अदृष्ट, वासना, कर्माशय, संस्कार, दैव, भाग्य आदि-आदि।

वेदान्त दर्शन में माया, अविद्या तथा प्रकृति शब्द का प्रयोग हुआ है। अपूर्व शब्द मीमांसा दर्शन में प्रयुक्त हुआ है। धर्माधर्म और अदृष्ट न्याय और वैशेषिक दर्शनों में प्रचलित है। कर्माशय शब्द योग और सांख्य दर्शन में उपलब्ध है। वासना शब्द बौद्ध दर्शन में प्रचलित है।

भारतीय दर्शनों में -- जैसा कर्म वैसा फल-सिद्धान्त की मान्यता है। महाभारत में कहा गया है -- 'जिम प्रकार गाय का बछड़ा हजारों गौओं में अपनी मां को दूढ़ लेता है और उसका अनुसरण करता है, उसी प्रकार पूर्व कृत कर्म उसके कर्ता का अनुसरण करते हैं तथा दूसरी बोनि में अपने किये हुए कर्म परछाई के समान साथ-साथ चलते हैं। भगवान् बुद्ध ने कहा है - 'जो जैसा बीज बोता है, वह वैसा ही फल पाता है।' भगवान् महावीर ने कहा है -- किया हुआ कर्म सदा अपने कर्ता का अनुगमन करता है। अच्छे कर्मों के अच्छे फल और बुरे कर्मों के बुरे फल होते हैं।

भारतीय दर्शन में कर्म की विचित्र गति के सिद्धान्त की मान्यता है। मनुस्मृति में कहा है -- "मन, वचन और शरीर के शुभ या अशुभ कर्मफल के कारण मनुष्य की उत्तम, मध्यम या अधम गति होती है।" विष्णुपुराण में कहा गया है -- 'हे राजन् ! यह आत्मा न तो देव है, न मनुष्य है और न पशु है, न ही वृक्ष -- ये भेद तो कर्म जन्य शरीर रूपी कृतियों का है। बौद्ध दर्शन में आचार्य नागसेन ने मिलिन्द-प्रश्न में बताया है -- राजन् ! जीवों की विक्रिता का कारण भी उनका अपना कर्म ही होता है। सभी जीव अपने-अपने कर्मों के फल भोगते हैं। सभी जीव अपने कर्मों के अनुसार नाना गतियों और योनियों में उत्पन्न होते हैं। भगवान् महावीर ने कहा है -- गौतम ! संसार के जीवों के कर्म-बीज भिन्न-भिन्न होने के कारण उनकी अवस्था या स्थिति में भेद है। यह अकर्म के कारण नहीं। कर्मरूपी बीज के कारण ही संसारी जीवों में अनेक उपाधियाँ, विभिन्न अवस्थाएँ दिखायी देती हैं। कर्म की इस विचित्रता की मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त 'भिन्नता का नियम' (Law of Variation) से तुलना की गई है। वंशानुक्रमिकता (Heredity traits) के वाहक बीजकोष (Carn Plasm) हुआ करते हैं। ये बीज अनेक रेशों से बने होते हैं। इन रेशों को अंग्रेजी में क्रोमोजोम्स (chromosomes) कहते हैं।

एक बीज-कोष में अनेक वंशसूत्र पाये जाते हैं। इन वंशसूत्रों के और भी अनेक सूक्ष्म भाग होते हैं, जिन्हें अंग्रेजी में जीन्स कहते हैं। वास्तव में ये जीन्स ही विभिन्न गुण-दोषों के वाहक होते हैं। जीव विज्ञान के अनुसार प्रत्येक भ्रूण-कोष में 23 पिता के तथा 23 माता के वंशसूत्रों का समागम होता है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि इनके संयोग से 16, 77 एवं 216 प्रकार की विभिन्न संभावनाएँ अपेक्षित हैं। अभी तक विज्ञान केवल जीन्स तक ही पहुँच पाया है। जीन इस स्थूल शरीर का ही घटक है किन्तु कर्म सूक्ष्म शरीर है, वह सूक्ष्म है। इससे सूक्ष्म कर्मशरीर, वह सूक्ष्मतरंग है। इसके एक-एक स्कन्ध पर अनन्त-अनन्त लिपियाँ लिखी हुई हैं। हमारे पुरुषार्थ का, अच्छाइयों एवं बुराइयों का, न्यूनताओं और विशेषताओं का साक्ष्य लेखा-जोखा और सारी प्रतिक्रियाएँ कर्मशरीर में अंकित हैं। वहाँ जैसे स्पन्दन आने लग जाते हैं, आदमी वैसा ही व्यवहार करने लग जाता है। महाप्रज्ञ जी लिखते हैं कि एक दिन यह तथ्य भी प्रकाश में आ जायेगा कि जीन केवल माता-पिता के गुणों या संस्कारों का ही संवहन नहीं करते, किन्तु ये हमारे किए हुए कर्मों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं।

अतः उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष है कि अब जीन्स बनाम कर्म शोध का एक महत्त्वपूर्ण विषय है।

द्वितीय अध्ययन में जैन कर्मसिद्धान्त की विशेषताओं का अध्ययन किया गया है। जीव व पुद्गल का अनादि सम्बन्ध है। जीव जीता है - प्राण धारण करता है, अतः जीव है। जैन सामान्य कर्मयुक्त आत्मा से कर्ममुक्त-आत्मा अर्थात् परमात्मा कैसे बन सकता है ? सार्वभौमिकता के सिद्धान्त के अन्तर्गत 84 लाख योनि के जीवों में से किसी भी योनि का जीव किसी भी अन्य योनि में जाकर उत्पन्न हो सकता है।

समस्त देहधारियों की आत्मा के साथ अनन्त काल से पुद्गल-निर्मित शरीर है। किसी भी शरीर में जब तक आत्मा रहती है, तभी तक वह शरीर या पुद्गल (कर्मवर्गणा के पुद्गल) का कर्म करता है।

कर्मों की विविध प्रकृतियों को जैन दर्शन में मूल प्रकृति-आठ (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र, आयु और अन्तराय) और उत्तर 148 प्रकृतियों में वर्गीकृत किया गया है। अन्य दर्शन यह मानते हैं कि कर्म संस्कार रूप है। जैन दर्शन के अनुसार शरीर पौद्गलिक है, उसका कारण कर्म है। अतः कर्म भी पौद्गलिक है। भाव कर्म और द्रव्य कर्म में बड़ा अन्तर है। कर्म के चैतसिकपक्ष को भाव कर्म या मल कहते हैं और कर्म पुद्गलों को द्रव्य कर्म या रज कहा जाता है। भाव कर्म से द्रव्य कर्म का संग्रह होता है और द्रव्य कर्मों से भाव कर्मों की तीव्रता निर्धारित होती है।

प्रकृति संक्रमण का सिद्धान्त जैन कर्मवाद की प्रमुख विशेषता है। जैसे वनस्पति विज्ञान विशेषज्ञ खट्टे फलों को मीठे फलों में तथा निम्न जाति के बीजों को उन्नत जाति के बीजों में परिवर्तित कर देते हैं, वैस ही पाप के बद्ध कर्म परमाणु कालान्तर में तप आदि के द्वारा पुण्य के परमाणु के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। कर्म मुक्त होकर जीव आत्मा से परमात्मा बन सकता है।

तृतीय अध्याय में मैंने कर्म-बन्ध के कारणों का अध्ययन किया है। जीव और कर्म के संश्लेष को बन्ध कहते हैं। जीव अपनी वृत्तियों से कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। इन ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गल और जीव-प्रदेशों का बन्धन या संयोग बन्ध है। जिस चैतन्य परिणाम से कर्म बँधता है, वह भाव बन्ध है और आत्मा के प्रदेशों का कर्म प्रदेशों के साथ अन्योन्य प्रवेश -- एक-दूसरे में मिल जाना एक क्षेत्रावागी हो जाना -- द्रव्य बन्ध है। कर्म आने का द्वार है, आस्रव। कर्मबन्ध का मुख्य कारण है कषाय। आगमों में कर्मबन्ध के दो हेतु हैं, 1- राग और द्वेष। राग से माया और लोभ तथा द्वेष से क्रोध और मान उत्पन्न होते हैं।

कर्मबन्ध के चार कारण हैं -- 1. मिथ्यात्व, 2. अविरति 3. योग और 4. कषाय। ठाणांग, समवायांग में पांच कारण बताये गये हैं -- 1. मिथ्यात्व 2. अविरति 3. प्रमाद 4. कषाय और 5. योग। वाचक उमास्वाति के मत में 42 कर्मबन्ध के कारण (आस्रव) हैं -- 1 से 5 इन्द्रियां, 6-9 चार कषाय 10-14 पांच अन्न, 15-38 पच्चीस क्रियाएं 39-42 तीन योग।

आस्रव के चार भेद हैं -- 1. प्रकृति 2. स्थिति 3. अनुभाग और 4. प्रदेश। योग आस्रव प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध का हेतु है तथा कषाय आस्रव स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध का हेतु है।

चतुर्थ अध्याय में मैंने कर्मों की अवस्थाओं का अध्ययन किया है - जैन दर्शन कर्म को स्वतन्त्र तत्त्व मानता है। कर्मसिद्धान्त की विशालता के रूप में दस अवस्थाओं-करणों की प्रव्यारणा की गई है। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध हैं, वे समूचे लोक में जीवात्मा की प्रच्छी-बुरी प्रवृत्तियों के द्वारा उसके साथ बन्ध जाते हैं।

बंधने के बाद उसका परिपाक होता है, वह सत्ता अवस्था है। परिपाक के पश्चात् उनके सुख दुःख रूप फल मिलते हैं। वह उदयमान (उदय) अवस्था है। वैदिक दर्शनों में क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध क्रमशः बन्ध, सत्ता और उदय समानार्थक हैं। कर्म का शीघ्र फल मिलना उदीरणा है। कर्म की स्थिति और विपाक में वृद्धि होना उदवर्तना है। कर्म की स्थिति और विपाक में कमी होना, अपवर्तना है। कर्म की सजातीय प्रकृतियों का एक दूसरे के रूप में बदलना संक्रमण है। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में कर्मसिद्धान्त में प्ररूपित संक्रमण को मार्गान्तीकरण या उदात्तीकरण कहा गया है। मार्गान्तीकरण या स्पान्तरण का अर्थ है : किसी प्रवृत्ति या क्रिया का रास्ता बदल देना। कर्मों की सर्वथा अनुदय अवस्था को उपशम कहते हैं। उपशम केवल मोहनीय कर्म का होता है। अग्नि में तपाकर निकाली हुई लोहे की सुइयों के सम्बन्ध के समान पूर्वबद्ध कर्मों का मिल जाना निघत्ति है। निकाचित बन्ध होने के बाद कर्मों को भोगना ही पड़ता है। इसमें उदीरणा, उदवर्तना, अपवर्तना आदि नहीं होते। आर्हत दर्शन दीपिका में निकाचित दशा में भी परिवर्तन होना बताया गया है --

सर्व पगई एवं परिणाम वसादेव कमी होज्जा

पाप निकायाणं तवसाओ निकाइयाणं वि ।

करोड़ों भवों के संचित कर्म तप के द्वारा निर्जीर्ण हो जाते हैं। मन-वचन-काया की शुभ प्रवृत्ति से आत्मा के साथ जुड़े कर्म झड़ते हैं और आत्मा कुछ अंशों में उजज्वल होती है, वह निर्जरा है। कर्म झड़ने का हेतु होने से तप को भी निर्जरा कहते हैं। 'भव कोडी संचीयकम् तवसा निज्जरिज्जइ।' अतः छः प्रकार की आन्तरिक तथा छः प्रकार की बाहरी निर्जरा का इसमें विवेचन किया गया है। कर्मों की निर्जरा के क्रमिक विकास की सीढ़ियों पर चढ़ने की क्रिया का नाम गुणस्थान है। इसका भी इसमें विवेचन किया गया है।

पंचम अध्याय में मैने ज्ञानमीमांसा का आधुनिक मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन प्रस्तुत किया है। जैनागमों के अनुसार -- जीव ज्ञान-जल का पान कर मुक्ति-मन्दिर को प्राप्त होते हैं। जो जानता है, वह ज्ञान है, जिसके द्वारा जाना जाए, सो ज्ञान है, जानना मात्र ज्ञान है।

ज्ञान दो प्रकार का है -- 1. प्रत्यक्ष और 2. परोक्ष। मति और श्रुत ज्ञान परोक्ष है। अवधि, मनःपर्याय और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले बोध को मति ज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान के दो भेद हैं -- 1. श्रुत निश्चित और 2. अश्रुतनिश्चित। अश्रुतनिश्चित में चार प्रकार की बुद्धियों का विवेचन है -- 1. औत्पातिकी, 2. वैनीयिकी, 3. कार्मिकी और 4. पारिणामिकी। मतिज्ञान चार प्रकार का है -- 1. अवग्रह, 2. ईहा 3. अवाय और 4. धारणा। मति, स्मृति, संज्ञा, (प्रत्यभिज्ञान) चिन्ता और अभिनिबोध वे पर्यायवाची नाम हैं।

मनोविज्ञान की स्मृति (Memory) और जैन दर्शन के मतिज्ञान में बहुत अंशों में साम्य है। मनोविज्ञान के स्मृति के अंगों (Factors of Memory) -- 1. याद करना (Remember)।

2. धारणा (Retention) 3. पुनर्स्मरण (Recall) तथा 4. पहचान (Recognition) की तुलना मतिज्ञान के भेदों -- 1. अवग्रह 2. ईहा, 3. अवाय और 4. धारणा से की जा सकती है। अवधिज्ञान को परामनोविज्ञान की भाषा में टेलीपैथी (Telepathy) से उपमित किया जा सकता है। मनःपर्याय ज्ञान की अतीन्द्रिय ज्ञान (Extra-sensory perception) से तुलना की जा सकती है। केवलज्ञान की अवधारणा जैन दर्शन में मनोविज्ञान के क्षेत्र से भी अतीत है, अनुपम है।

षष्ठम अध्याय में मैंने भाव-जगत् का आधुनिक मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया है। भगवान् महावीर ने कहा है --

रागो य दोसो वि य कम्मवीयं

-- राग और द्वेष, ये दोनों कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। कर्म जन्म-मरण का मूल है। जन्म-मरण से दुःख होता है। यहां भाव-जगत् अर्थात् मोहकर्म - (राग और द्वेष) का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया गया है।

प्रीत्यात्मक अनुभूति या संवेदना को राग कहते हैं और अप्रीत्यात्मक अनुभूति या संवेदना को द्वेष कहते हैं। वाचकवर्त्य उमास्वाति के अनुसार इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गृद्धता, ममता, अभिनन्दन, प्रसन्नता और अभिलाषा राग के पर्यायवाची हैं। दूमरी ओर ईर्ष्या, रोष, दोष, द्वेष, परिवाद, मत्सर, असूया, वैर, प्रचंडन आदि द्वेष के पर्यायवाची हैं।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक राबर्ट एस्. वुडवर्थ Robert S. Wood Worth ने अपनी रचना Psychology -- A Study of Mental Life, Feeling and Emotion (p. 334) में सुख (राग) और दुःख (द्वेष) आदि भावों का इसी प्रकार का वर्गीकरण किया है --

Pleasure : Happiness, joy, delight, elation, rapture.

Displeasure : Discontent, grief, sadness, sorrow, rejection.

इन पर्यायवाची शब्दों के जैन दर्शन और मनोविज्ञान के राग-द्वेष के पर्यायवाची शब्दों में बड़ा भारी साम्य है। ध्वला में बताया गया है कि मोह कर्म के अन्तर्गत माया, लोभ, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य और रति इनका नाम राग है। इसके विपरीत क्रोध, मान, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा ये छः कषाय द्वेष रूप हैं। मैकडूगल की 14 मूल प्रवृत्तियों तथा मोहकर्म की प्रकृतियों में बड़ी भारी समानता है। मनोविज्ञान की चार पद्धतियों 1. अवदमन (Repression), विलयन (Inhibition), मार्गान्तरिकरण (Redirection) तथा शोधन (Sublimation) द्वारा इन वृत्तियों (मोहनीय-प्रकृतियों) का रूपान्तरण संभव है।

सप्तम अध्याय में शरीर-संरचना पर आधुनिक शरीर-विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में मैंने शोध कार्य किया है। भगवान् महावीर ने कहा है -- आयुष्मान् ! इस संसार रूपी सागर के दूसरे पार जाने के लिए यह शरीर नौका है जिसमें बैठकर आत्मारूपी नाविक समुद्र पार करता है; जो उत्पत्ति के समय से लेकर प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण होता रहता है। जिसके द्वारा भौतिक

सुख-दुःख का अनुभव होता रहता है, जो शरीर नामकरण के उदय से उत्पन्न होता है, उसे शरीर कहते हैं। शरीर पांच प्रकार के हैं-- 1. औदारिक 2. वैक्रिय 3. आहारक 4. तैजस और 5. कर्मण। शरीर संस्थान छः हैं -- 1. समचतुरस्र, 2. न्योगध-परिमंडल, 3. साधि (स्वाति), 4. कुब्ज, 5. वामन और 6. हुंडक। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक शैल्डन के अध्ययन के अनुसार शरीरों का वर्गीकरण तीन प्रकार का है -- 1. कोमल-गोलाकार (Endomorphic) 2. आयताकार (Mesomorphic) तथा लम्बाकार (Ectomorphic)। क्रेचनर (Kretchner) के अनुसार शारीरिक वर्गीकरण इस प्रकार है -- 1. सुडौलकाय (Athletic) 2. लम्बकाय (Asthenic) 3. गोलकाय (Pyknic) तथा 4. डायस्प्लास्टिक (Dysplastic)। संहनन नाम कर्म के अन्तर्गत हड्डियों का वर्गीकरण शरीर मनोवैज्ञानिकों के संधियों के भेद (Kinds of Joints) -- 1. सूत्र सन्धि (Fibrous Joints) 2. उपास्थि (Cartilaginous Joints) 3. स्नेहक सन्धि (Synovial Joints) आदि से तुलनीय है। पर्याप्ति नामकर्म के अन्तर्गत -- 1. आहार 2. शरीर 3. इन्द्रिय 4. श्वासोच्छ्वास, 5. भाषा और 6. मनः पर्याप्ति की तुलना आधुनिक आयुर्वेद एवं शरीर विज्ञान में गर्भ विज्ञान के साथ विस्तार से की जा सकती है।

अष्टम अध्याय में उपसंहार के अन्तर्गत भारतीय दर्शन में कर्म-सिद्धान्त के अन्तर्गत कर्म-बन्धन के कारणों की विवेचना की गई है तथा विस्तार से कर्मों के विषय में ज्ञान-प्राप्ति के लिए कर्मों की अवस्थाओं पर प्रकाश डाला गया है। ज्ञान-मीमांसा, भाव जगत् तथा शरीर संग्रचना का मनोविज्ञान और शरीर विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार से अध्ययन प्रस्तुत किया गया है कि सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र के मनन पूर्वक अध्ययन और अभ्यास से तथा संक्रमणकरण की प्रक्रिया के द्वारा व्यक्तित्व का रूपान्तरण करते हुए आत्म विकास के परम-पथ पर अग्रसर हुआ जा सकता है। यही जीवन का चरम उद्देश्य है।



- रत्नलाल जैन, गली आर्यसमाज, हांसी (हरियाणा) - १२५०३३.

पुस्तक समीक्षा

"कटलाग आफ द मेनुस्क्रिप्ट आफ पाटन जैन भंडार" भाग 1,2,3,4 -- संकलन स्व. मुनि श्री पुण्य विजय जी, सम्पादक मुनि श्री जम्बूविजय जी। आकार-डबलडिमाई अठपेजी। पृष्ठसंख्या 402 + 222 + 547 + 307 = 1475। कपड़े की पक्की जिल्द, प्रकाशक शारदा जैन, चिमनभाई, एजुकेशनल रिसर्च सेन्टर, 'दर्शन' शाहीबाग, अहमदाबाद-4, सम्पूर्णसेट का कूल्य : 1600/-

प्रस्तुत कृति चार भागों में और तीन जिल्दों में प्रकाशित है। प्रथम जिल्द में भाग 1 व 2 द्वितीय जिल्द में भाग 3 एवं तृतीय जिल्द में भाग 4 मुद्रित है। प्रथम जिल्द के भाग 1 व 2 में पाटन के हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमंदिर की 20035 हस्तप्रतों का विवरण दिया गया है। इसके प्रथमभाग में यह विवरण भंडार के ग्रन्थों की सूची क्रमांक के आधार पर दिया गया है। साथ ही साथ इन दोनों भागों में प्रत्येक ग्रंथ की पत्र संख्या, भाषा, रचनाकाल, लेखनकाल एवं लेखक का नाम आदि का उल्लेख भी है।

प्रथमभाग का प्रकाशन पूर्व में हो चुका है, इसलिए इस भाग में कृति के ग्रन्थाग्र, रचनाकाल, लेखनकाल, स्थिति, साइज आदि का उल्लेख नहीं किया गया है। प्रथमभाग में क्रमांक १ से १४७८६ तक की कृतियों के विवरण है। इसके द्वितीय भाग में 14790 से लेकर 20035 तक के ग्रन्थों का उल्लेख है। इसमें भी क्रमांक 19767 तक पत्र संख्या, भाषा, कर्त्ता, भाषा, रचनाकाल, लेखनकाल आदि का विवरण है, किन्तु 19768 से लेकर 20035 तक मात्र पत्र संख्या दी गई है। यदि इन कृतियों का भी सम्पूर्ण विवरण होता तो अधिक उचित होता। प्रकाशन संस्था किन कारणों से यह विवरण देने में असमर्थ रही है, यह हम नहीं जानते हैं। आवश्यक ही उसकी कोई कठिनाई रही होगी।

द्वितीय जिल्द के तृतीय भाग में इन समग्र 20035 कृतियों का अकारादि क्रम से संयोजन किया गया है। इससे पाठकों को यह सहज रूप से ज्ञात हो जाता है कि किस कृति की कितनी हस्तप्रतियाँ इस भंडार में उपलब्ध हैं। उदाहरण के रूप में अंगचूलिया की ७ प्रतियाँ, अक्षरकृतदशा की 11 प्रतियाँ और आवश्यक नित्युक्ति की १७ प्रतियाँ इस भंडार में उपलब्ध है। यद्यपि इसमें कहीं-कहीं लेखनगत भिन्नता के कारण एक ही नामवाली कृतियों का दो-दो स्थानों पर भी उल्लेख हुआ है जैसे अंगचूलिका के रूप में जहाँ दो कृतियों का उल्लेख है वहीं अंगचूलिया एवं अक्षरकृतदशा के रूप में 5 कृतियों का उल्लेख है। भविष्य में इन भूलों का सुधार आवश्यक है क्योंकि यह गलती केवल लेखनशैली की भिन्नता के कारण कम्प्यूटर के द्वारा हो गई है।

तृतीय जिल्द के चतुर्थ भाग में पाटन के अन्य भंडारों की कृतियों का भी उल्लेख हुआ है। इसमें 3206 कृतियों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें से भी ग्रन्थ नाम, कर्त्ता का नाम,

पत्र संख्या, ग्रन्थाग्र, रचना संवत्, लेखन संवत्, भाषा व ग्रन्थ स्थिति आदि का चित्रण है। इससे पश्चात् इमी खण्ड में इन कृतियों का अकारादि क्रम से विवरण प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ वे अन्त में संघवीपाडे के ताड़पत्रीय ग्रन्थों की भी सूची प्रकाशित है। इस प्रकार तीन जिल्दों एवं चार भागों में प्रकाशित यह सम्पूर्ण सूची पाटन के ग्रन्थ भण्डार में उपलब्ध ग्रन्थों का एक प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करती है। ज्ञातव्य है कि प्राचीनतम हस्तप्रतों की दृष्टि से यह भण्डार अद्वितीय है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में संस्था में डायरेक्टर जितेन्द्र बी. शाह ने जो श्रम किया है वह स्तुत्य है। आशा है भविष्य में भी वे शोध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ऐसी कृतियों के प्रकाशन में रुचि लेंगे। मुद्रण निर्दोष व सुन्दर है। शोधसंस्थानों व ग्रन्थालयों के लिए पुस्तक अपरिहार्य है। अन्त में पुनः प्रकाशक संस्था एवं उसके निदेशक को धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने इस अमूल्य निधि को हमें उपलब्ध कराया है।



जैन आगम साहित्य, संपा. डॉ. के. आर. चन्द्र, प्रका. प्राकृत जैन विद्याविकास फंड, अहमदाबाद-380015, वितरक- पार्श्व प्रकाशन. निशापोल नाका, जवेरीवाड़, रिलीफ रोड, अहमदाबाद, ई.सं. 1992 डिमाई- 16 पेजी, मूल्य- 100/-

प्रस्तुत कृति में गुजरात विश्वविद्यालय अक्टूबर, 1986 में संपन्न जैन आगम साहित्य संगोष्ठी में पठित निबन्धों में से चुने हुए निबन्धों का प्रकाशन किया गया है। सभी निबन्ध मुख्यतया आगम साहित्य से ही संबंधित हैं। कुल 30 निबन्ध प्रकाशित किये गए हैं। प्रथम निबन्ध में आचार्य श्री तुलसी के आचारांग के ध्यान साधना के सूत्रों को प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय निबन्ध प्रो. एम.ए. ढाकी का है जो सूत्रकृतांग के पुण्डरीक अध्ययन की प्राचीनता पर प्रकाश डालता है। तृतीय लेख में स्थानांग में 5 ज्ञानों की जो चर्चा है उसका विवरण मिलता है। इसके लेखक श्री जितेन्द्र बी. शाह हैं। चतुर्थ में युवाचार्य महाप्रज्ञ ने आगमों में वर्णित अतीन्द्रिय ज्ञान के चक्रों तथा ग्रन्थि-तंत्र का उल्लेख किया है। कृति के अन्य लेखों में डा. सागर मल जैन का प्रश्नव्याकरण की प्राचीन विषय वस्तु की खोज शोध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार यशोधरा बाधवानी का अंग्रेजी लेख जो जैन आगमों व प्रमुख उपनिषदों में वर्णित मोक्ष मार्ग का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राकृत भाषा की दृष्टि से प्रो. भायानी का 'त' श्रुति वाला लेख भी महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। अन्य लेखों में कुछ आगम साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों की विषय-वस्तु का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं तो कुछ जैन आगमों की विषय-वस्तु की उपनिषद, मनुस्मृति, धम्मपद, महाभारत आदि से तुलना करते हैं। संक्षेप में सभी लेख महत्त्वपूर्ण हैं। ग्रन्थ का मुद्रण सामान्य है, किन्तु उसमें प्रतिपादित विषयवस्तु

के महत्त्व से इंकार नहीं किया जा सकता। ग्रन्थ शोध अध्येयताओं के लिए पठनीय व संग्रहणीय है।

मध्यकालीन भारतीय मूर्तिकला, डा. मारुतिनन्दन तिवारी तथा डा. कमलगिरि : विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 1991, पृष्ठ 206, चित्र 80, मूल्य रु. 150)

ऐतिहासिक दृष्टि से मौर्य एवं शुंगकाल भारतीय मूर्तिकला की शैशवावस्था, कुषाण काल उसकी किशोरावस्था तथा गुप्तकाल युवावस्था का प्रतिनिधित्व करते हैं। गुप्तोत्तर काल में कला की मूल धारा में आंचलिक तत्वों का समावेश होता है और धीरे-धीरे क्षेत्रीय विशेषताएं उभर कर सामने आने लगती हैं। ये परिवर्तन केवल मूर्तिकला में ही नहीं अपितु स्थापत्य, काव्य, नाटक और संगीत प्रभृति कला की विभिन्न विधाओं में तथा भाषा और लिपि में भी दृष्टिगोचर होते हैं।

गुप्तकाल भारतीय संस्कृति का स्वर्णयुग था और गात्र-यष्टि की गोलाई और लचीलापन, सजीवता, मृदुता तथा रूप और भाव का सामंजस्य गुप्तकालीन मूर्ति कला के अभिन्न अंग थे। गुप्त-कला की परम्परा इतनी सशक्त थी कि भारत के कुछ प्रदेशों में 6वीं से 8वीं शती तक और कहीं-कहीं और भी बाद तक उसकी गरिमा का प्रभुत्व बना रहा, पर इन क्षेत्रीय कलाओं में भी आंचलिक विभेद स्पष्ट हैं। सामान्यतया गुप्तोत्तर काल में कला का हास प्रारम्भ हो जाता है। धीरे-धीरे गात्र-यष्टि में जकड़ाहट और शिथिलता आने लगती है और सजीवता का स्थान भंगिमाएँ ले लेती हैं तथा भाव प्रवणता के बदले प्रतिमाशास्त्रीय विधि-विधान एवं लक्षणों का वर्चस्व हो जाता है।

सातवीं शती के बाद उत्तर भारत छोटे-मोटे अनेक राज्यों में बँट गया और दक्षिण भारत तो पहले से ही विभिन्न प्रदेशों में विभक्त था। इन सभी राज्यों और प्रदेशों की निजी सांस्कृतिक विरासत और निजी भाषा, साहित्य एवं कला-पद्धति थी और ये प्रायः संघर्षरत रहते थे। एक ओर ये राज्य सन्धि और विग्रह द्वारा आपस में जुड़ते और टकराते रहते थे, तो दूसरी ओर मन्दिर निर्माण एवं मन्दिरों को अधिक से अधिक अलंकृत करने की इनमें होड़ भी चलती रहती थी। अस्तु, प्रत्येक क्षेत्रीय कला शैली का अपना व्यक्तित्व और अपनी विशेषताएँ थीं, जिनका इस पुस्तक में सूक्ष्म विश्लेषण एवं सर्वांगीण अध्ययन किया गया है।

डा. तिवारी भारतीय कला के अनेक क्षेत्रों के और विशेषतः जैन प्रतिमा-शास्त्र के जाने-माने विशेषज्ञ हैं और डा. गिरि ने भी 'भारतीय श्रृंगार' नामक पुस्तक तथा अपने शोध-प्रबन्धों द्वारा कला के क्षेत्र में अपना स्थान बना लिया है। विद्वान् और विदुषी लेखकद्वय ने मूर्तिकला विषयक उपलब्ध साहित्य का गहन अनुशीलन तथा संग्रहालयों एवं अनेक कलाकेन्द्रों में निरीक्षण कर यह प्रामाणिक ग्रन्थ लिखा है। अंग्रेजी भाषा में भी मध्यकालीन मूर्तिकला की सभी शैलियों पर एक ग्रन्थ अप्राप्य है। इस प्रकार की सामग्री अनेक पुस्तकों और शोध प्रबन्धों में बिखरी हुई है। मध्यकालीन सभी शिल्प-शैलियों का हिन्दी के एक ग्रन्थ में सांगोपांग आलोचन लेखकद्वय के भगीरथ परिश्रम एवं बौद्धिक साहस का फल है।

प्रथम अध्याय में मध्यकालीन राजनीति तथा संस्कृति का ऐतिहासिक सर्वेक्षण किया गया है। द्वितीय अध्याय में मध्यकालीन शिल्प के सामान्य तत्त्वों की समीक्षा की गई है। तृतीय अध्याय सबसे बड़ा है और इसमें विभिन्न क्षेत्रीय कला-शैलियों का विशद विवेचन किया गया है।

कतिपय गुप्तोत्तर कालीन केन्द्रों तथा क्षेत्रीय शिल्प-शैलियों में, यथा उत्तर भारत की प्रतिहार एवं पूर्व पाल कलाओं में, महाराष्ट्र के एलोरा और धारपुरी (एलीफेन्टा) केन्द्रों में, तथा दक्षिण भारत की चालुक्य एवं पल्लव शैलियों में कला के उदात्त तत्त्व अक्षुण्ण बने रहे, यद्यपि प्रत्येक विधा की अपनी विशेषता भी कायम रही। पूर्व पाल कला में गुप्त कला की झलक स्पष्ट है और मुखाकृतियाँ सौम्य हैं। एलोरा और उससे भी अधिक धारपुरी की मूर्तियाँ अधिकतर विशालकाय एवं अलौकिक गरिमा से मण्डित हैं। पल्लव शैली वेंगी कला की दायद पुत्री हैं तथा इसकी आकृतियाँ छरहरी और लयात्मकता में बेजोड़ हैं। चोल कला में पल्लव कला की तरलता तथा एलोरा की भव्यता का अनोखा संगम है जो पाषाण तथा कांस्य मूर्तियों में समान रूप से देखा जा सकता है। पर मध्यकालीन अन्य क्षेत्रीय शैलियों में कला ऊंचे स्तर से गिरने लगी है और कृत्रिमता तथा शिथिलता का शिकार हो जाती है, जो दक्षिण की होयसल शैली में, पूर्व की सेन कला में तथा राजस्थान में आबू (देल्वाड़ा) के शिल्प में साफ नजर आता है। प्रतिमाशास्त्रीय लक्षणों के उल्लङ्घन में फँस कर कला अब रीति-प्रधान हो जाती है। गतिशीलता भंगिमाओं में बदल जाती है। अंगयष्टि अलंकार-बाहुल्य से बोझिल हो जाती है तथा कला का तरल प्रवाह शिथिल पड़ जाता है।

प्रत्येक मध्यकालीन क्षेत्रीय कला के उद्गम और विकास का अपना इतिहास है। इस ग्रन्थ में उन सभी के तकनीक, विषय-वस्तु तथा विशिष्ट तत्त्वों का चित्रों और उदाहरणों के सहारे विश्लेषण एवं अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक की भाषा रोचक और सुपाठ्य है। हिन्दी में कला-विषयक पुस्तकों के अभाव के कारण लेखकद्वय ने पारिभाषिक शब्दावली के चयन में काफी परिश्रम और सूझ-बूझ से काम लिया है। फिर भी इसमें कहीं-कहीं कुछ कसर रह गई है, यथा 'स्थिरत्व' एक गुण है पर इसका प्रयोग गतिहीनता (दोष) के बदले हुआ है। श्रृंगारात्मकता के स्थान पर 'ऐन्द्रकता' का प्रयोग भी अनुपयुक्त है। पर ये छोटे दोष पुस्तक के महत्त्व को कहीं भी प्रभावित नहीं करते हैं। इस विषय का हिन्दी का यह एकमात्र ग्रन्थ है और विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों तथा शोध छात्रों के लिये उपयोगी होने के साथ ही सामान्य पाठकों और भारत कला के जिज्ञासुओं के लिए भी उपादेय एवं ज्ञान-वर्धक है।

अंतराल के लिए लेखकद्वय तथा प्रकाशक दोनों बधाई के पात्र हैं।



अपभ्रंश काव्य सौरभ, डॉ. कमलचन्द सोगानी, प्रकाशक अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जैन विद्या संस्थान, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी, राजस्थान, 1992, मूल्य सजिल्द रु.125/-, पेपर बैक रु. 75 प्राप्तिस्थान - जैन विद्या संस्थान, श्री महावीरजी (राजस्थान), अपभ्रंशसाहित्य अकादमी, दिगम्बर जैन नसियां भट्टारकजी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर-302004 ।

अपभ्रंश, प्राकृत और आधुनिक उत्तर भारतीय भाषाओं के बीच की एक कड़ी है। इसका प्रकाशित, अप्रकाशित विपुल साहित्य इसके महत्त्व को और जन जीवन में इसके स्थान को स्पष्ट कर देता है। यह हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी, बंगला आदि की जननी है फिर भी दुर्भाग्य से इसके अध्ययन की परम्परा धीरे-धीरे विलुप्त हो रही है। यदि इसके अध्ययन की परम्परा लुप्त हो गयी तो भविष्य में ऐसी स्थिति भी आ सकती है कि इस भाषा को जानने वाला कोई न रहे। प्रो. कमलचन्द सोगानी निश्चित ही धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने अपभ्रंश साहित्य अकादमी की स्थापना करके और अपभ्रंश भाषा के अध्ययन को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। प्रस्तुत कृति अपभ्रंश अध्ययन की दिशा में पाठ्य ग्रन्थों की कमी पूर्ति हेतु महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी। पउमचरिउ, महापुराण, जबूंसामिचरिउ, सुदर्शनचरिउ, करकण्डुचरिउ, धन्नुकुमारचरिउ आदि अपभ्रंश के ग्रन्थों से इसकी सामग्री का संकलन किया गया है। संकलन सुन्दर है। साथ ही इनका हिन्दी अनुवाद एवं व्याकरणिक विश्लेषण इसे पूर्णतः एक पाठ्य पुस्तक बना देता है। व्याकरणिक विश्लेषण के माध्यम से अर्थ को स्पष्ट करने की लेखक की शैली विशिष्ट है। उन्होंने पूर्व में भी प्राकृत के कुछ ग्रन्थों का अनुवाद किया है। अपभ्रंश अध्येता उनके श्रम को सार्थक करें, यही अपेक्षा है। यदि इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में अपभ्रंश व्याकरण जोड़ दिया जाता, तो यह ग्रन्थ अपभ्रंश के अध्ययन के लिए एक सम्पूर्ण ग्रन्थ बन जाता।



जैन साधना पद्धति में ध्यानयोग, लेखक - साध्वी प्रियदर्शना जी, प्रकाशक - श्री रत्न जैन पुस्तकालय, आचार्य श्री आनन्दऋषि जी मार्ग, अहमदनगर, डिमाई सोलह पेजी, पृष्ठ सं. 590+ 60 = 650, मूल्य रु. 300/-

वर्तमान युग में मनुष्य तनावों से त्रस्त है। परिणामतः ध्यान साधना की ओर मानव जाति की रुझान पुनः बढ़ी है। आज न केवल ध्यान की प्राचीन विधियों की पूर्वस्थापना हो रही है, अपितु अनेक नवीन ध्यान विधियों का उद्भव भी हुआ है। प्रस्तुत कृति में जैन साधना पद्धति में ध्यान का क्या स्वरूप रहा है, इसका विस्तृत विवेचन है। प्रस्तुत कृति छः अध्यायों में विभक्त

हे। प्रथम में योग एवं ध्यान की वैदिक, बौद्ध और जैन साधना पद्धतियों के विवरण के साथ ही साथ भारतीयतर धर्मों की ध्यान एवं योग की साधना पद्धतियों का भी विवरण प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय में ध्यान साधना संबन्धी जैन साहित्य का विवरण है, उसमें पूर्व-साहित्य तथा अंग और अंग बाह्य साहित्य के विवरण के साथ ही साथ आगमिक व्याख्या साहित्य के रूप में निर्युक्तियों, भाष्यों, चूर्णियों और टीकाओं का भी विवरण प्रस्तुत है। इसके अतिरिक्त दिगम्बर परम्परा के षट्खण्डागम, भगवतीआराधना आदि तथा कुन्द-कुन्द के समयसार, नियमसार पंचास्तिकाय एवं प्रवचनसार की भी चर्चा है। साथ ही तत्त्वार्थ की टीकाओं तथा - तत्त्वार्थ-भाष्य, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक आदि को इसमें समाहित किया गया है। यद्यपि हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि आगमों, आगमिक साहित्य, तत्त्वार्थ और उसकी टीकाओं में ध्यान संबन्धी विवरण अल्प ही है। यदि साधवी श्री जी तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन करते हुए यह दिखाने का प्रयास करते कि ध्यान के विभिन्न पक्षों को लेकर इनमें किस प्रकार परिवर्तन हुआ है और उन पर अन्य परम्पराओं का प्रभाव कैसे हुआ है -- तो इस कृति का महत्त्व अधिक बढ़ जाता। कृति के तीसरे अध्याय में जैन साधना में ध्यान के स्थान का चित्रण है। इसमें तप के भेद-प्रभेदों की चर्चा के साथ-साथ ध्यान का उल्लेख हुआ है। चतुर्थ अध्याय विशेष रूप से जैन धर्म में ध्यान के स्वरूप का प्रतिपादन करता है जबकि पंचम् अध्याय में ध्यान के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख है। षष्ठम् अध्याय मुख्य रूप से ध्यान के उपलब्धियों की चर्चा करता है, इस दृष्टि से इसे ध्यान के व्यवहारिक लाभों से जोड़ा गया है। ग्रन्थ के अन्त में कुछ परिशिष्ट भी दिये गये हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में डॉ. सागरमल्ल जैन की विस्तृत भूमिका ग्रन्थ के महत्त्व में अभिवद्धि करती है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें ध्यान को केन्द्र बनाकर सम्पूर्ण जैन साधना को उजागर किया गया है। ग्रन्थ पठनीय एवं संग्रहणीय है।



परवार जैन समाज का इतिहास, लेखक एवं सम्पादक - सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परवार सभा, मूल्य- 150/-, डिमाई 16 पेजी, 1992।

यद्यपि जैन धर्म और जैन परम्परा के इतिहास के सन्दर्भ में पर्याप्त रूप से लिखा गया है किन्तु जहाँ तक जैन जातियों के इतिहास का प्रश्न है इस सन्दर्भ में अल्प सामग्री ही है। प्रस्तुत कृति में परवार जैन समाज का इतिहास प्रस्तुत करके पं. फूलचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री ने इस कमी को दूर किया है। वर्तमान में पोरवाल, पद्मावती-पोरवाल, परवार आदि अनेक जैन जातियाँ हैं जो मूलतः प्रागवाट नामक जाति के ही विभिन्न रूप हैं। यद्यपि परवार व पोरवार दोनों एक जाति के दो रूप हैं या दोनों स्वतंत्र जातियाँ हैं यह विवाद का विषय है। समान्यतया प्रागवाट या पोरवाल जाति श्वेताम्बर परम्परा में पायी जाती है, वहीं परवार जाति दिगम्बर परम्परा में पायी जाती है। यद्यपि पं. जी ने अत्यन्त परिश्रम पूर्वक परवार जाति के उदभव व

विकास की खोज-बीन करने का प्रयत्न किया है, फिर भी ग्रन्थ के अध्ययन से ऐसा लगता है कि प्रामाणिक सामग्री के अभाव में उन्हें कहीं-कहीं अनुश्रुतियों से ही सन्तोष करना पड़ा है। पं. जी ने अनुश्रुतियों के आधार पर अथवा उनके आधार पर बनी पट्टावलियों को मान्यता देकर गुप्तिगुप्त आदि प्राचीन आचार्यों का भी परवार जाति से जोड़ने का प्रयत्न किया है जो कि प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है। हम पं. जी के कथन से सहमत हैं कि अधिकांश वर्तमान जैन जातियाँ राजस्थान से ही निकली हैं।

प्रस्तुत कृति परवार जाति के इतिहास लेखन का प्रथम प्रयास है, इसलिए अभी उसमें परिवर्तन व परिवर्धन का पर्याप्त अवसर है, यह बात विद्वान लेखक व प्रकाशक ने भी स्वीकार की है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में पं. जगनमोहनलाल जी की भूमिका तथा द्वितीय खण्ड में नाथूराम प्रेमी जी का परवार जाति के इतिहास पर प्रकाश नामक आलेख भी ग्रन्थ के महत्त्व को बढ़ाते हैं। जहाँ तक प्रेमी जी के द्वारा लिखित अंश का प्रश्न है निश्चय ही वह एक शोधपूर्ण व सम्प्रदाय निरपेक्ष दृष्टि से लिखा गया अंश है, जबकि प्रथम खण्ड में पं. फूलचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री ने परवार जाति के इतिहास के संबन्ध में जो कुछ लिखा है, उसे इस युग में निश्चय ही दुर्भाग्यपूर्ण कहना होगा। उनके शब्दों में "सोरठिया परवार श्वेताम्बरों के इस माया-जाल से कभी नहीं निकल सके और उनका श्वेताम्बरीकरण होकर रहा" -- मन्दिर मार्गी श्वेताम्बरों की यह प्रवृत्ति इस समय भी चालू है। जहाँ उनका वश चलता है (दिगम्बर) धर्म चिन्हों का श्वेताम्बरीकरण कर लेते हैं, यह क्या है ? यह आततायीपन नहीं तो और क्या है ? (पृ. 53) मैं यहाँ कथन की सत्यता या असत्यता पर तो कोई चर्चा करना नहीं चाहता, किन्तु इतना अवश्य चाहता हूँ कि लेखक व संपादक को भाषा का संयम अवश्य रखना चाहिये, क्योंकि भविष्य में ये बातें साम्प्रदायिक विद्वेष का कारण बनती हैं। ज्ञातव्य है कि श्वे. परम्परा के प्रागवाटों के सम्बन्ध में भी इतिहास लिखे गए हैं। सम्भवतः एक का उपयोग तो इस कृति में हुआ है किन्तु दूसरा जो देवास म.प्र. से प्रकाशित है, वह ग्रन्थ पं. जी को उपलब्ध नहीं हो सका होगा, भावी संस्करण में यदि उसका भी उपयोग हो सके तो उचित होगा। ग्रन्थ के षष्ठ और सप्तम खण्ड में जो परवार समाज के विभिन्न व्यक्तियों का परिचय दिया गया है, वह शोध की दृष्टि से आज तो महत्त्व का नहीं हैं, किन्तु भावी युग में जब कभी परवार समाज का इतिहास लिखा जायेगा यह अंश उनके लिए उपयोगी होगा। सात खण्डों में विभाजित इस ग्रन्थ में दो विभाग हैं -- प्रथम इतिहास विभाग और द्वितीय परवार जैन समाज का परिचय। इसमें इतिहास विभाग के लेखक पं. फूलचन्द्र जी शास्त्री हैं। (प्रकाशकीय, पृ. ६) और शेष द्वितीय विभाग की सामग्री का संकलन विभिन्न स्रोतों से करके इस डॉ. कमलेश कुमार जैन (वाराणसी) ने पं. जगमोहनलाल जी शास्त्री कटनी के निर्देशन में सम्पन्न किया है (अपनीबात, पृ. १२)। कृति पठनीय व संग्रहणीय है। इसके लिए लेखक व प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं।



‘इतिहास की ओम्ब बेल ओम्बवाल’, खण्ड २, लेखक - श्री मांगीलाल भूतोडिया, प्रकाशक - प्रियदर्शी प्रकाशन, 7 ओल्ड पोस्ट आफिस स्ट्रीट, कलकत्ता-1, आकार डिमाई 16 पेजी, पृ. सं. 460, प्रथम खण्ड, मूल्य - 100/-, द्वितीय खण्ड - 175/-

प्रस्तुत कृति ओम्बवाल जाति के इतिहास का द्वितीय खण्ड है। इसके पूर्व श्री मांगीलाल जी भूतोडिया ने इसके प्रथम खण्ड के बारह अध्यायों में ओम्बवाल जाति के उद्भव आदि के सन्दर्भ में विस्तृत जानकारी दी है, जिसकी समीक्षा पूर्व में हमने प्रकाशित की थी। इसके द्वितीय खण्ड में 13 से 23 तक कुल 11 अध्याय हैं। तेरहवें अध्याय में ओम्बवालों के प्रवसन सम्बन्धी विवरण है। कृति का 14वाँ अध्याय ओम्बवाल जाति के गोत्रों के उद्भव पर प्रकाश डालता है। यह अध्याय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें क्षत्रिय, चौहान, परमार, राठौर, प्रतिहार, सिंसोदिया, कछवा, सोलंकी, गौठ, सोडा राजपूतों से तथा ब्राह्मण, श्रीमाल, माहेश्वरी, खण्डेलवाल आदि जातियों से ओम्बवालों के कौन-कौन से गोत्र संबन्धित हैं, इसका एक प्रामाणिक विवरण दिया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें गुजरात के ओम्बवालों का भी विवरण है। 15 वें अध्याय में ओम्बवाल संस्कृति का विवरण है। सोलहवाँ अध्याय ओम्बवालों का शासन संचालन में क्या योगदान रहा इसकी चर्चा करता है। 17वें अध्याय में ओम्बवालों की सहजातियों यथा अग्रवाल, खण्डेलवाल आदि की चर्चा है। कृति का 18वाँ अध्याय ओम्बवाल जाति के विभिन्न भेद-प्रभेदों की चर्चा करता है। इसके अतिरिक्त इसमें ओम्बवालों के द्वारा वैष्णव धर्म व दिगंबर परम्परा को अपनाये जाने का भी उल्लेख है। 19 वें अध्याय में ओम्बवाल समाज की सामाजिक समस्याओं की चर्चा है। 20वाँ अध्याय जनगणना की दृष्टि से ओम्बवालों की चर्चा करता है। अध्याय क्रमांक 21 एवं 22 में क्रमशः ओम्बवाल जाति के नारी रत्नों व नर पुंगवों की चर्चा है।

इस प्रकार श्री मांगीलाल जी भूतोडिया ने पर्याप्त परिश्रम करके ओम्बवाल जाति के इतिहास को तैयार करने का प्रयास किया है। यद्यपि इतिहास लेखन एक ऐसा कार्य है जिसकी पूर्णता का दावा नहीं किया जा सकता। क्योंकि एक तो ग्रंथ लेखन में पृष्ठों की सीमाएं होती हैं। दूसरे लेखक को उपलब्ध सामग्री भी लेखन को सीमित बनाती है। अतः हम यह तो नहीं कह सकते कि यह कृति ओम्बवाल जाति का पूर्ण इतिहास प्रस्तुत करती है, फिर भी अभी तक ओम्बवाल जाति के इतिहास लेखन के जो भी प्रयास हुए हैं उनमें यह एक सर्वोत्तम प्रयास है। भविष्य में इस दिशा में जो और भी प्रयास होंगे और उनके लिए यह कृति आधार भूमि बनेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है। कृति संग्रहणीय है। इस हेतु लेखक निश्चय ही बधाई के पात्र हैं।



श्रमण

जुलाई-सितम्बर १९९२ रजि० नं० एल० ३९ फोन : ३११४६२



transform plastic ideas
into beautiful shape

NUCHEM MOULDS & DIES

Our high-precision moulds and dies are designed to give your moulded product clean, flawless lines. Fully tested to give instant production the moulds are made of special alloy steel, hard-chrome-plated for a better finish.

Get in touch with us for information on compression, injection or transfer moulds. Send a drawing or a sample of your design. If required we can undertake jobs right from the designing stage.

Write to :

***Nuchem* PLASTICS LTD.**

Engineering Division 20/6, Mathura Road, Faridabad (Haryana)

Edited Printed and Published by Prof. Sagar Mal Jain, Director,
Pujya Sohanlal Smarak Parshvanath Shodhpeeth,
Varanasi-221005